अमरवल्लरी
और अन्य कहानियां

अज्ञेय



बहिन इन्दु को

इस संग्रह की अधिकतर कहानियाँ पहले 'विपथगा' नाम के कहानी-संग्रह में छपी थीं। उसका—और अन्य कहानी-संग्रहों का—पुनः मुद्रण नहीं किया जा रहा है; 'अज्ञेय' की सम्पूर्ण कहानियों का वृहत् संग्रह क्रमशः खंडों में प्रकाशित होगा।

एक कहानी 'गृह त्याग' पहले 'कोठरी की बात' नामक संग्रह में छपी थी।

कहानियों में जहाँ-तहाँ कुछ परिवर्तन किया गया है, और कुछ भूलें सुधार दी गयी हैं।

सूची

अमरवल्लरी	११—२८
हारिति	२९—४७
गृह-त्याग	४८—६३
विपथगा	६४—८४
अकलंक	८५—१०४
एकाकी तारा	१०५—१४
शत्रु	११५—११८
पगोडा वृक्ष	११९—१४४

अमरवल्लरी
और अन्य कहानियाँ

अमरवल्लरी

An aristocrat must do without close personal love.
H.G. wells.

मैं दीर्घायु हूँ, चिरजीवी हूँ; पर यह बेल, जिस के पाश में मेरा शरीर, मेरा अंग-अंग बँधा हुआ है, यह वल्लरी क्षयहीन है, अमर है।

मैं न-जाने कब से यहीं खड़ा हूँ—अचल, निर्विकार, निरीह खड़ा हूँ। न-जाने कितनी बार शिशिर ऋतु में मैंने अपनी पर्णहीन अनाच्छादित शाखाओं से कुहरे की कठोरता को फोड़ कर अपने नियन्ता से मूक प्रार्थना की है; न-जाने कितनी बार ग्रीष्म में मेरी जड़ों के सूख जाने से तृषित सहस्रों पत्र-रूप चक्षुओं से मैं आकाश की ओर देखा किया हूँ; न-जाने कितनी बार हेमन्त के आने पर शिशिर के भावी कष्टों की चिन्ता से मैं पीला पड़ गया हूँ; न-जाने कितनी बार वसन्त, उस आह्लादक, उन्मादक वसन्त में, नीबू के परिमल से सुरभित समीर में मुझे रोमांच हुआ है और लोमवत् मेरे पत्तों ने कम्पित होकर स्फीत सरसर ध्वनि कर के अपना हर्ष प्रकट किया है! इधर कुछ दिनों से मेरा शरीर क्षीण हो गया है, मेरी त्वचा में झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, और शारीरिक अनुभूतियों के प्रति मैं उदासीन हो गया हूँ। मेरे पत्ते झड़ गये हैं, ग्रीष्म और शिशिर दोनों ही को मैं उपेक्षा की दृष्टि से देखता हूं। किन्तु वसन्त! न-जाने उस के ध्यान में ही कौन-सा जादू है, उस की स्मृतिमात्र में कौन-सी शक्ति है, कि मेरी इन सिकुड़ी हुई धमनियों में भी नये संजीवन का संचार होने लगता है, और साथ ही एक लालसामय अनुताप मेरी नस-नस में फैल जाता है...

वसन्त...उस की स्मृतियों में सुख है और कसक भी। जब मेरे चारों ओर क्षितिज तक विस्तृत उन अलसी और पोस्त के फूलों के खेत एक रात-भर ही में विकसित हो उठते थे, जब मैं अपने आप को सहसा एक सुमन-समुद्र के बीच में खड़ा हुआ पाता था, तब मुझे ऐसा भास होता था, मानो एक हरित सागर की नीलिमामय लहरों को वसन्त के अंशुमाली की रश्मियों ने आरक्त कर दिया हो। मेरा हृदय आनन्द और कृतज्ञता से भर जाता था। पर उस

कृतज्ञता में सन्तोष नहीं होता था, उस आनन्द से मेरे हृदय की व्यथा दबती नहीं थी। मुझे उस सौन्दर्यच्छटा में पड़ कर एकाएक अपनी कुरूपता की याद आ जाती थी, एक जलन मेरी शान्ति को उड़ा देती थी...

कल्पना की जड़ मन की व्यथा में होती है। जब मुझे अपनी कुरूपता के प्रति ग्लानि होती, तब मैं एक संसार की रचना करने लगता--ऐसे संसार की, जिस में पीपल के वृक्षों में भी फूल लगते हैं...और एक रंग के नहीं, अनेक रंगों के, जिस में शाखें जगमगा उठें! एक शाखा में सहस्रदल शोण-कमल, दूसरी पर कुमुद, तीसरी पर नील-नलिन, चौथी पर चम्पक, पाँचवीं पर गुलाब, और सब ओर, फुनगियों तक पर, नाना रंगों के अन्य पुष्प---कैसी सुखद थी वह कल्पना! पर अब उस कल्पना की स्मृति से क्या लाभ है? अब तो मैं बूढ़ा हो गया हूँ, और रक्तबीज की तरह अक्षय यह बेल मुझ पर पूरा अधिकार जमा चुकी है। मैं विराट् हूँ, अचल हूँ; किन्तु मेरी महत्ता और अचलता ने ही मुझे इस अमरवल्लरी के सूक्ष्म, चंचल तन्तुओं के आगे इतना निस्सहाय बना दिया! किसी दिन वह कृशतनु, पददलिता थी, और आज यह मुझे बाँध कर, घोंट कर, झुका कर, अपनी विजय-कामना पूरी करने की ओर प्रवृत्त हो रही है!

कैसे सुदृढ़ हैं इस के बन्धन! कितने दारुण, कितने उग्र! लालसा की तरह अदम्य, पीड़ा की तरह असह्य, दावानल की तरह उत्तप्त, ये बन्धन मेरे निर्बल शरीर को घोंट कर उस की स्फूर्ति और संजीवन को निकाल देना चाहते हैं। और मैं, निराश और मुमूर्षु मैं, स्मृतियों के बोझ से दिक्पालों की तरह दबा हुआ मैं, चुपचाप उस की कामना के आगे धीरे-धीरे अपना अस्तित्व मिटा रहा हूँ...

फिर भी कभी-कभी...ऐसा अनुभव होता है कि इस वल्लरी के स्पर्श में कोई लोमहर्षक तत्त्व है...जिस प्रकार कोई पुरानी, विस्मृत तान संगीतकार के स्पर्श-मात्र से सजग, सजीव हो उठती है, जिस प्रकार बूढ़ा, शुभ्रकेश, मृयमाण शिशिर, वसन्त का सहारा पा कर क्षण भर के लिए दीप्त हो उठता है, जिस प्रकार तरुणी के अन्ध-विश्वास पूर्ण, कोमल, स्निग्ध प्रेम में पड़ कर

बूढ़े के हृदय में गुदगुदी होने लगती है, नयी कामनाएँ उदित हो जाती हैं—उसी प्रकार मेरे शरीर में, मेरी शाखाओं में, मेरे पत्तों में, मेरे रोम-रोम में इस का विलुसित स्पर्श, एक स्नेहमय जलन का, एक दीप्तिमय लालसा का, एक अननुभूत, अकथ, अविश्लिष्ट, उन्मत्त प्रेमोल्लास का संचार कर देती है ! मैं सोचने लगता हूँ कि अगर मेरी शाखें भी उतनी ही लचकदार होतीं, जितनी इस अमर बेल की हैं, तो मैं स्वयं उस के आश्लेषण को दृढ़तर कर देता, उस के बन्धन को स्वयं कस देता ! पर विश्वकर्मा ने मुझे ऐसा निकम्मा बना दिया—मैं प्रेम पा सकता हूँ, दे नहीं सकता; प्रेम-पाश में बँध सकता हूँ, बाँध नहीं सकता; प्रेम की प्रस्फुटन-चेष्टा समझ सकता हूँ, व्यक्त नहीं कर सकता ! जब प्रेम-रस में मैं विमुग्ध हो कर अपने हृदय के भाव व्यक्त करने की चेष्टा करता हूँ, तब सहसा मुझे अपनी स्थूलता, अचलता का ज्ञान होता है, और मेरी वे चिर-विचारित, चिर-निर्दिष्ट, अदमनीय चेष्टाएँ जड़ हो जाती हैं; मेरे संभ्रम का एकमात्र चिह्न वह पत्तों का कम्पन, मेरी आकुलता की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन उन का कोमल सरसर शब्द ही रह जाता है । इतना भीमकाय हो कर भी एक लतिका के आगे मैं कितना निस्सहाय हूँ !

वसन्त, सुमन, पराग, समीर, रसोल्लास...कैसा संयोग होता है ! पर अब, अपने जीवन के हेमन्त-काल में, क्यों मैं वसन्त की कल्पना करता हूँ ? अब वे सब मेरे जीवन में नहीं आ सकते, अब मैं एक और ही संसार का वासी हो गया हूँ, जिस में सुमन नहीं प्रस्फुटित होते, स्मृतियाँ जागती हैं, जिस में मदालस नहीं, विरक्ति-शैथिल्य भरा हुआ है ! मेरे चारों ओर अब भी वसन्त में अलसी और पोस्त के फूल खिलते हैं, हँसते हैं, नाचते हैं, फिर चले जाते हैं । मेरा हृदय उमड़ आता है; पर उस में अनुरक्ति नहीं होती, उस रूप-सागर के मध्य में खड़ा हो कर भी मैं अपनी सुदूरता का ही अनुभव करता हूँ, मानो आकाश-गंगा का ध्यान कर रहा होऊँ ! जिस सृष्टि से मैं अलग हो गया हूँ, उसकी कामना मैं नहीं करता, उस में भाग लेने की लालसा मेरे हृदय में नहीं होती । मेरा स्थान एक दूसरे ही युग में है, और उसी का प्रत्यावलोकन मेरा आधार है, उसी की स्मृतियाँ मेरा पोषण करती हैं ।

यह बल्लरी अमर है, अनन्त है। जब मैं गिर जाऊँगा, तब भी शायद यह मेरे शरीर पर लिपटी रहेगी और उसमें बची हुई शक्ति को चूसती रहेगी।

पर जब इस का अंकुर प्रस्फुटित हुआ था, तब मैं क्षीण नहीं था। मेरे सुगठित शरीर में ताजा रस नाचता था; मेरा हृदय प्रकृति-संगीत में लवलीन हो कर नाचता था; मैं स्वयं यौवन रंग में प्रमत्त होकर नाच रहा था...जब मेरी विस्तृत जड़ों के बीच में कहीं से इसका छोटा-सा अंकुर निकला, उस के पीले-पीले, कोमल, तरल तन्तु इधर-उधर सहारे की आशा से फैले और कुछ न पा कर मुरझाने लगे, तब मैंने कितनी प्रसन्नता से इसे शरण दी थी, कितना आनन्द मुझे इस के शिशुवत् कोमल प्रथम स्पर्श से हुआ था! उस समय शायद वात्सल्य-भाव ही मेरे हृदय में सर्वोपरि था, जब वह बढ़ने लगी, जब उस के शरीर में एक नयी आभा आ गयी, तब उस के स्पर्श में वह सरलता, वह स्नेह नहीं रहा, उस में एक नूतनता आविर्भूत हुई, एक विचित्र भाव आ गया, जिस में मेरी स्वतन्त्रता नहीं रही। जब भी मैं कुछ सोचना चाहता, उसी का ध्यान आ जाता। उस ध्यान में लालसा थी, और साथ ही कुछ लज्जा-सी; स्वार्थ था और साथ ही उत्सर्ग हो जाने की इच्छा; तृष्णा थी और साथ ही तृप्ति भी; ग्लानि थी और साथ ही अनुरक्ति भी! जिस भाव को आज मैं पूरी तरह समझ गया हूँ, उस का मुझे उन दिनों आभास भी नहीं हुआ था। उन दिनों इस परिवर्तन पर मुझे विस्मय ही होता रहता था—और वह विस्मय भी आनन्द से, ग्लानि से, लालसा से, तृप्ति से, परिपूरित रहता था!

मेरे चरणों के पास एक छोटा-सा चिकना पत्थर पड़ा हुआ था, जिस में गाँव की स्त्रियाँ आ कर सिन्दूर और तेल का लेप किया करती थीं। कभी-कभी वे अपने कोमल हाथों से सिन्दूर का एक लम्बा-सा टीका मेरे ऊपर लगा देती थीं, कोई-कोई युवती आ कर सहज स्वभाव से मेरे दोनों ओर बाँहें फैला कर मेरे इस कुडौल शरीर से अंक भर लेती थी, कोई-कोई मेरा गाढ़ालिंगन कर के अपने कपोल मेरी कठिन त्वचा से छुआ कर कुछ देर चुपचाप आँसू बहा कर चली जाती थी—मानो उसे कुछ सान्त्वना मिल गयी हो। पर मानव-संसार की उन सुकोमल लतिकाओं के स्पर्श में, उन के परिष्वंग में, मुझे आसक्ति

नहीं थी। कभी-कभी, जब कोई सरला अभागिनी मुझे अपनी बाँहों से घेर कर दीन स्वर से कहती, "देवता, मेरी इच्छा कब पूरी होगी ?" तब मैं दयार्द्र हो जाता, और अपने पत्ते हिला कर कुछ कहना चाहता। न-जाने वे मेरा इंगित समझतीं या नहीं। न-जाने उन्हें कभी मेरी कृतज्ञता का ज्ञान होता या नहीं। मैं यही सोचता रहता कि अगर मैं नीरस पीपल न हो कर अशोक वृक्ष होता, तो अपनी कृतज्ञता तो जता सकता, उन प्रेम-विह्वलाओं के स्पर्श से पुष्पित हो, पुष्प-भार से झुक कर उन्हें नमस्कार तो कर सकता! पर मैं यह सोचता हुआ मूक ही रह जाता, और वे चली जातीं!

पर उन के स्पर्श से मुझे रोमांच नहीं होता था, मैं अपने शिखर से जड़ों तक काँपने नहीं लगता था। कभी-कभी, जब कोई स्त्री आ कर मेरी आश्रिता इस अमरवल्लरी के पुष्प तोड़ कर मेरे पैरों में डाल देती, तब मेरे मर्म पर आघात पहुँचता था; पर उस से मुझे जितनी व्यथा होती, जितना क्रोध आता, उसे भी मैं व्यक्त नहीं कर पाता था। मैं विश्वकर्मा से मूक प्रार्थना करने लगता—विश्वकर्मा मूक प्रार्थना भी सुन लेते हैं—कि उस स्त्री को कोई भी वैसी ही दारुण वेदना हो! वह मुझे देवता मान कर पुष्पों से पूजा करती थी, और मैं उस के प्रति इतनी नीच कामना करता था—किन्तु प्रेम के प्रमाद में बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है!

कैसा विचित्र था वह प्रेम! अगर मैं जानता होता! अगर मैं जानता होता!

किन्तु क्या जान कर इस जाल में न फँसता? आज मैं जानता हूँ, फिर भी तो इस वल्लरी का मुझ पर इतना अधिकार है, फिर भी तो मैं इसके स्पर्श से गद्‌गद हो उठता हूँ!

प्रेम आईने की तरह स्वच्छ रहता है, प्रत्येक व्यक्ति उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है, और एक बार जब वह खंडित हो जाता है, तब जुड़ता नहीं। अगर किसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न से हम उस के भग्नावशिष्ट खंडों को जोड़ कर रख भी लें, तो उस में पुरानी कान्ति नहीं आती। वह सदा के लिए कलंकित हो जाता है, स्नेह अनेकों चोटें सहता है, कुचला जा कर भी पुनः उठ खड़ा

होता है, किन्तु प्रेम में अभिमान बहुत अधिक होता है, वह एक बार तिरस्कृत हो कर सदा के लिए विमुख हो जाता है। आज इस वल्लरी के प्रति मेरा अनुराग बहुत है, पर उसमें प्रेम का नाम भी नहीं है—वह स्नेह का ही प्रतिरूप है। वह विह्वलता प्रेम नहीं है, वह प्रेम की स्मृति की कसक ही है।

अपने इस प्रेम के अभिनय का जब मैं प्रत्यावलोकन करता हूँ, तब मुझे एक जलन-सी होती है। प्रेम से मुझे जो आशा थी, वह पूर्ण नहीं हुई, और उसकी अपूर्त्ति के लिये मैं किसी प्रकार भी दोषी नहीं था। मुझे यही प्रतीत होता है कि नियन्ता ने मेरे प्रति, और इस लता के प्रति, और उन अबोध स्त्रियों के प्रति जो मुझे देवता कह कर सम्बोधित करती थीं, न्याय नहीं किया। निर्दोष होते हुए भी हम अपने किसी अधिकार से, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, वंचित रह गये। जब इस भाव से, इस प्रवंचना के ज्ञान से, मैं उद्विग्न हो जाता हूँ, तब मुझे इच्छा होती है कि मैं वृक्ष न हो कर मानव होता। इस तरह एक ही स्थान में बद्ध हो कर न रहता, इधर-उधर घूम कर अपने प्रेम को व्यक्त कर सकता, और—और इस तरह भुजहीन, असहाय न होता!

किन्तु क्या मानव-हृदय मेरी संज्ञा से इतना भिन्न है? क्या मानवों के प्रेम में और मेरे में इतनी असमानता है? क्या मानव में भी हमारी तरह मूक वेदनायें नहीं होतीं, क्या उनमें भी प्रेम के अंकुर का अँधेरे में ही प्रस्फुटन और विकसन और अवसान नहीं हो जाता? क्या वे प्रेम-विह्वल हो कर अपने-आप को अभिव्यक्ति के सर्वथा अयोग्य नहीं पाते, क्या उनमें लज्जा अनुरक्ति का और ग्लानि लालसा का अनुगमन नहीं करती? वे मानव हैं, हम वनस्पति; वे चलायमान हैं, हम स्थिर; पर साथ ही हम उनकी अपेक्षा बहुत दीर्घजीवी हैं, और हमारी संयम-शक्ति भी उन से बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी है। उन का प्रेम सफल होकर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है, और हम में प्रेम की जलन ही कितने वर्षों तक कसकती रहती है।

बहुत दिनों की बात है। उन दिनों मुझे इस वल्लरी के स्पर्श में मादकता का भास हुआ ही था, इस के आलिंगन से गुदगुदी होनी आरम्भ ही हुई थी! उन दिनों में उस नये प्रेम का विकास देखने और समझने में ही इतना व्यस्त

था कि आसपास होने वाली घटनाओं में मेरी आसक्ति बिल्कुल नहीं थी, कभी-कभी विमनस्क हो कर मैं उन्हें एक आँख देख भर लेता था। वह जो बात मैं कहने लगा हूँ, उसे मैं नित्यप्रति देखा करता था, किन्तु देखते हुए भी नहीं देखता था। और जब वह बात खत्म हो गयी, तब उस की ओर मेरा उतना ध्यान भी नहीं रहा। पर मेरे जाने बिना ही वह मुझ पर अपनी छाप छोड़ गयी, और आज मुझे वह बात नहीं, उस बात की छाप ही दीख रही है। मैं मानो प्रभात में बालुकामय भूमि पर अंकित पदचिन्हों को देख कर, निशीथ की नीरवता में उधर से गयी हुई किसी अभिसारिका की कल्पना कर रहा हूँ!

मेरे चरणों पर पड़े हुए उस पत्थर की पूजा करने जो स्त्रियाँ आती थीं, उन में कभी-कभी कोई नयी मूर्त्ति आ जाती थी, और कुछ दिन आती रहने के बाद लुप्त हो जाती थी। ये नयी मूर्त्तियाँ प्रायः बहुत ही लज्जाशीला होतीं, प्रायः उन के मुख फुलकारी के लाल और पीले अवगुंठन से ढके रहते, और वे धोती इतनी नीची बाँधती कि उन के पैरों के नूपुर भी न दीख पाते! केवल मेरे समीप आकर जब वे प्रणाम करने को झुकतीं, तब उनका गोधूम वर्ण मुख क्षण भर के लिए अनाच्छादित हो जाता, क्षण भर उनके मस्तक का सिन्दूर कृष्ण मेघों में दामिनी की तरह चमक जाता, क्षण भर के लिए उन के उर पर विलुलित हारावली मुझे दीख जाती, क्षण भर के लिए पैरों की किंकिणियाँ उद्घाटित हो कर चुप हो जातीं और मुग्ध हो कर बाह्य-संसार की छटा को और अपनी स्वामिनियों के सौन्दर्य को निरखने लगतीं! फिर सब-कुछ पूर्ववत् हो जाता, अवगुंठन उन मुखों पर अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए उन्हें छिपा कर रख लेते, हारावलियाँ उन स्निग्ध उरों में छिप कर सो जातीं, और नूपुर भी मुँह छिपा कर धीरे-धीरे हँसने लगते...

एक बार उन नयी मूर्त्तियों में एक ऐसी मूर्त्ति आयी, जो अन्य सभी से भिन्न थी। वह सब की आँख बचा कर मेरे पास आती और शीघ्रता से प्रणाम कर के चली जाती, मानो डरती हो कि कोई उसे देख न ले। उस के पैरों में नूपुर नहीं बजते थे, गले में हारावली नहीं होती थी, मुख पर अवगुंठन नहीं होता था, ललाट पर सिन्दूर-तिलक नहीं होता था। अन्य स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्रा-

भूषण पहन कर आती थीं, वह शुभ्रवसना थी। अन्य स्त्रियाँ प्रातःकाल आती थीं; पर उसका कोई निर्दिष्ट समय नहीं था। कभी प्रातःकाल, कभी दिन में, कभी सन्ध्या को वह आती थी...जिस दिन उस का आना सन्ध्या को होता था, उस दिन वह प्रणाम और प्रदक्षिणा कर लेने के बाद मेरे पास ही इस अमरवल्लरी का सहारा ले कर भूमि पर बैठ जाती, और बहुत देर तक अपने सामने सूर्यास्त के चित्र-विचित्र मेघ-समूहों को, अलसी और पोस्त के पुष्पमय खेतों को, और गाँव से आनेवाले छोटे-से धूल-भरे पथ को देखती रहती...उस के मुख पर अतीत स्मृति-जनित वेदना का भाव व्यक्त हो जाता, कभी-कभी वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़ देती...उस समय सहानुभूति और समवेदना में पत्ते भी सरसर ध्वनि कर उठते...वह कभी कुछ कहती नहीं थी, कभी कोई प्रार्थना नहीं करती थी। मुझे चुपचाप प्रणाम करती और चली जाती—या वहीं बैठ कर किसी के ध्यान में लीन हो जाती थी। उस ध्यान में कभी-कभी वह कुछ गुनगुनाती थी, पर उस का स्वर इतना अस्पष्ट होता था कि मैं पूरी तरह समझ नहीं पाता था।

पहले मेरा ध्यान उसकी ओर नहीं जाता था; किन्तु जब वह नित्य ही गोधूलि-बेला में वहाँ आ कर बैठने लगी, तब धीरे-धीरे मैं उस की ओर आकृष्ट होने लगा। जब सूर्य की प्रखरता कम होने लगती, तब मैं उस की प्रतीक्षा करने लग जाता था—कभी अगर उस के आने में विलम्ब हो जाता, तो मैं कुछ उद्विग्न-सा हो उठता...

एक दिन वह नहीं आयी। उस दिन मैं बहुत देर तक उस की प्रतीक्षा करता रहा। सूर्यास्त हुआ, अँधेरा हुआ, तारे निकल आये, आकाश-गंगा ने गगन को विदीर्ण कर दिया, पर वह नहीं आयी।

उस के दूसरे दिन भी नहीं, तीसरे दिन भी नहीं—बहुत दिनों तक नहीं। तब मैंने उसकी प्रतीक्षा करनी छोड़ दी, तब सन्ध्या के एकान्त में मैं अपनी उद्भ्रान्त मनोगति को इस अमरवल्लरी की ओर ही प्रवृत्त करने लगा...

जब मैं उसे बिल्कुल भूल गया, तब एक दिन वह सहसा आ गयी। वह दिन मुझे भली प्रकार याद है। उस दिन आँधी चल रही थी, काले-काले बादल

घिर आये थे, ठंड खूब हो रही थी। मैं सोच रहा था कि वर्षा आयेगी, तो अमरवल्लरी की रक्षा कैसे करूँगा। एकाएक मैंने देखा, उस धूलधूसर पथ पर वह चली आ रही थी! वह अब भी पहले की भाँति अनलंकृत थी, उस का शरीर अब भी श्वेत वस्त्रों से आच्छादित था; पर उसकी आकृति बदल गयी थी, उस का सौन्दर्य लुप्त हो गया था। उस के शरीर में काठिन्य आ गया था, मुख पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं, आँखें धँस गयी थीं, ओठ ढीले होकर नीचे लटक गये थे। जब उस पहली मूर्त्ति से मैंने उस की तुलना की, तो मेरा अन्तस्तल काँप गया। पर मैं चुपचाप प्रतीक्षा में खड़ा रहा। उसने मेरे पास आकर मुझे प्रणाम नहीं किया, न इस वल्लरी का सहारा ले कर बैठी ही। उसने एक बार चारों ओर देखा, फिर बाँहें फैला कर मुझ से लिपट गयी और फूट-फूटकर रोने लगी। उस के तप्त आँसू मेरी त्वचा को सींचने लगे...

मैंने देखा, वह एकवसना थी, और वह वस्त्र भी फटा हुआ था। उस के केश व्यस्त हो रहे थे, शरीर धूल से भरा हुआ था, पैरों से रक्त बह रहा था...

वह रोते-रोते कुछ बोलने भी लगी...

"देवता, मैं पहले ही परित्यक्ता थी, पर मेरी बुद्धि खो गयी थी! मैं जहाँ गयी, वहीं तिरस्कार पाया; पर फिर भी तुम्हारी शरण छोड़ गयी! मैं कृतघ्ना थी, चली गयी। किस आशा से? प्रेम—धोखा—प्रवंचना! प्रतारणा! उस छली ने मुझे ठग लिया, फिर—फिर—देवता, मैं पतिता, भ्रष्टा, कलंकिनी हूँ। मुझे गाँव के लोगों ने मार कर निकाल दिया, अब मैं—मैं निर्लज्जा हूँ! अब तुम्हारी शरण आयी हूँ, अकेली नहीं, कलंक के भार से दबी हुई, अपनी कोख में कलंक धारण किये हुए!"

उस का वह रुदन असह्य था, पर हम को विश्वकर्मा ने चुपचाप सभी कुछ सहने को बनाया है!

मुझ पर उस का पाश शिथिल हो गया, उस के हाथ फिसलने लगे, पर उस की मूर्छा दूर न हुई। रात बहुत बीत गयी, उस का संज्ञा-शून्य शरीर काँपने लगा, फिर अकड़ गया...वह मूर्छा में ही फिर बड़बड़ाने लगी:

"देवता हो? छली! कितना धोखा, कितनी नीचता! प्रेम की बातें

करते तुम्हारी जीभ न जल गयी ! तुम्हारी शरण आऊँगी, तुम्हारी ! वह कलंक का टीका नहीं है, मेरा पुत्र है ! तुम नीच थे, तुमने मुझे अलग कर दिया। वह मेरा है, तुम्हारे पाप से क्यों कलंकित हो गया ? तुम देवता हो देवता। मैं तुम्हारी शरण से भाग गयी थी। पर वह पाप—उस में तो मेरा भी हाथ था ? तुम्हारी शरण में मुझे शान्ति मिलेगी ! मैं ही तो उस के पास गयी थी—कलंकिनी ! पर वह अबोध शिशु तो निर्दोष है, वह क्यों जलेगा ? क्यों काला होगा ? देवता, तुम बड़े निर्दय हो। उसे छोड़ देना ! मैं मरूँगी, जलूँगी, पर वह बच कर कहाँ जायगा ! देवता, देवता, तुम उसका पोषण करना !"

उस के शरीर का कम्पन बन्द हो गया प्रलाप भी शान्त हो गया—पर कुछ ही देर के लिए !

धीरे-धीरे तारागण का लोप हो गया, आकाश-गंगा भी छिप गयी। केवल पूर्व में एक प्रोज्ज्वल तारा जगमगाता रह गया। पवन की शीतलता एकाएक बढ़ गयी, अन्धकार भी प्रगाढ़तर हो गया. . .उस महाशान्ति में एकाएक उस के शरीर में संजीवन आ गया, वह एक हृदय-विदारक चीख मार कर उठी, उठते ही उसने अपने एकमात्र वस्त्र को फाड़ डाला। फिर वह गिर गयी, उस के अंगों के उत्क्षेप बन्द हो गये, उस का शरीर शिथिल, निस्पन्द हो गया. . .

जब सूर्य का प्रकाश हुआ, तब मैंने देखा, वह मेरे चरणों में पड़ी है, उस का विवस्त्र और संज्ञाहीन शरीर पीला पड़ गया था, और उस के अंग नीले पड़ गये थे. . .उस के पास ही उस का फटा हुआ एक मात्र वस्त्र रक्त से भीगा हुआ पड़ा था—और उसके ऊपर एक मलिन, दुर्गन्धिमय मांसपिंड. . .और वर्षा के प्रवाह में वह रक्त धुल कर, बह कर, बहुत दूर तक फैल कर कीचड़ को लाल कर रहा था. . .

कैसी भैरव थी वह आहुति !

क्या यही है मानवों का प्रेम ?

शायद मेरी धारणा गलत है। शायद मेरे अपने प्रेम की उच्छृंखलता ने मेरी कल्पना को भी उद्भ्रान्त कर दिया है। मानव अल्पायु होकर भी

इतने नीच हो सकते हैं, इसका सहसा विश्वास नहीं होता ! पर जब मुझे ध्यान हो आता है कि मेरी जड़ें दो ऐसी बलियों के रक्त से सिक्त हैं, जिनके अन्त का एकमात्र कारण यही था. जिसे वे मानव-प्रेम कहते हैं, तब मुझे मानवता के प्रति ग्लानि होने लगती है । पर उन दोनों का बलिदान प्रेम की वेदी पर हुआ था, या इन मानवों के समाज की, या वासना की ? वह स्त्री तो वंचिता थी, उसने तो प्रेम के उत्तर में वासना ही पायी थी । पर उसका अपना प्रेम तो दूषित नहीं था, वह तो वासना की दासी नहीं थी । और समाज--समाज ने तो पहले ही उसे ठुकरा दिया था, समाज ने तो उस से कोई सम्बन्ध नहीं रखा था । और उस अजात शिशु ने समाज का क्या बिगाड़ा था, वह वासना में कब पड़ा था ?

मेरे नीचे उस पत्थर की पूजा करने कितनी ही स्त्रियाँ आती थीं, वे तो सभी प्रसन्नवदना होती थीं, उन की बात मैं क्यों सोचता ? मानव-प्रेम की असफलता का एक यही उदाहरण मैंने देखा था, उसी पर क्यों अपना चित्त स्थिर किये हूँ ? वे जो इतनी आच्छादित, अवगुंठित, अलंकृत चपलाएँ वहाँ आती थीं और सहज स्वभाव से या कभी-कभी सम्भ्रम से मेरे सिन्दूर-तिलक लगातीं और मेरा आलिंगन कर लेती थीं उन के प्रणय तो सभी सुखमय होते होंगे, उन का प्रेम तो इतना विमूढ़ और विवेकहीन नहीं होता होगा ? और फिर मानवों का तो प्रेम के विषय में आत्म-निर्णय करने का अधिकार होता है ? उन के जीवन में तो ऐसा नहीं होता कि विधाता--या मनुष्य ही--जिस वल्लरी को उन के निकट अंकुरित कर दें, उसी से प्रणय करने को बाध्य हो जाना पड़े ?

पर मैंने सुना है--गाँव से पूजा के लिए आने वाली उन स्त्रियों के मुख से ही सुना है--कि उन के समाज में भी इस प्रकार के अनिच्छित बन्धन होते हैं । एक बार मैंने देखा भी था--देखा तो नहीं था, किन्तु कुछ ऐसे दृश्य देखे थे जिस से मुझे इस की अनुभूति हुई थी. . .

कभी-कभी, संध्या के पक्षिरव-कूजित एकान्त में, मुझे एकाएक इस बात का उद्बोधन होता है कि मेरा जीवन--इतना लम्बा जीवन !--व्यर्थ बीता

गया. . .इस वल्लरी के अनिच्छित बन्धन से—पर जो मुझे पागल कर देता है, मेरे हृदय में उथल-पुथल मचा देता है, मेरे शरीर को हर्ष और व्यथा से विह्वल कर देता है, जिस से छूट जाने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता, उस बन्धन को अनिच्छित कैसे कहूँ ? इस उद्बोधन की उग्रता को मिटाने के लिए मैं कितना प्रयत्न करता हूँ, पर वह जाती नहीं. . .मेरे हृदय में यह निरर्थकता का ज्ञान, यह जीने की इच्छा, यह संचित शक्ति का व्यय करने की कामना, किसी और भाव के लिए स्थान ही नहीं छोड़ती ! मैं चाहता हूँ, अपने व्यक्तित्व को प्रकृति की विशालता में मिटा दूँ, इस निरर्थकता के ज्ञान को दबा दूँ और जैसा कभी अपने यौवन काल में था, वैसा ही फिर से हो जाऊँ; पर कहाँ एक बूढ़े वृक्ष की चाह और कहाँ विधाता का अमिट निर्देश ! मैं बोलना चाहता हूँ—मेरे जिह्वा नहीं है; हिलना चाहता हूँ—मेरे पैर नहीं हैं; रोना चाहता हूँ—पर उस के लिए आँखें ही नहीं है तो आँसू कहाँ से आयेंगे. . .मैं चाहता हूँ, किसी से प्रेम कर पाऊँ—इतना विशाल, इतना अचल, इतना चिरस्थायी प्रेम कि संसार उस से भर जाये; पर मेरी अपनी विशालता, मेरी अपनी अचलता, मेरा अपना स्थायित्व इस कामना में बाधा डालता है ! मैं प्रेम की अभिव्यक्ति कर नहीं सकता, और जब करना चाहता हूँ, तब लज्जित हो जाता हूँ. . .जितना विशाल मैं हूँ, इतनी विशाल धुरा अपने प्रेम के लिए कहाँ पाऊँ ? और किसी अकिंचन वस्तु से प्रेम करना प्रेम की अवहेला है. . .

यह अमरवल्लरी—इस में स्थायित्व है, दृढ़ता है, पर यह चंचला भी है, और इसमें विशालता भी नहीं है—यह तो मेरे ही शरीर के रस से पुष्ट होती है !

एक स्मृति-सी मेरे अन्तःस्थल में घूम रही है, पर सामने नहीं आती, मुझे उस की उपस्थिति का आभास ही होता है । जिस प्रकार कुहरे में जलता हुआ दीपक नहीं दीख पड़ता, पर उस से आलोकित तुषारपुंज दीखता रहता है, उसी तरह स्मृति स्वयं नहीं प्रकट होती, परन्तु स्मृति मेरे अन्तःस्थल में काँप रही है ।

उस स्मृति का सम्बन्ध इसी प्रेम की विशालता से था, इतना मैं जानता हूँ; पर क्या सम्बन्ध था, नहीं याद आता. . .

एक और घटना याद आती है, जिसने किसी समय एकाएक विद्युत् की तरह मेरे हृदय को आलोकित कर दिया था—पर इतने प्रदीप्त आलोक से कि मैं बहुत देर के लिए चकाचौंध हो गया था...

उन दिनों मेरी पूजा—या मेरे चरणस्थित देवता की पूजा—नहीं होती थी। जब से वहाँ रक्त-प्रलिप्त देह और मांसपिंड पाया गया, तब से लोग शायद मुझसे डरने लगे थे। कभी-कभी सन्ध्या को जब कोई बटोही उधर से निकलता था, तब एक बार सम्भ्रम से मेरी ओर देख कर जल्दी-जल्दी चलने लग जाता था। दिन में कभी-कभी लड़के उस धूल-भरे पथ में आ कर खड़े हो जाते और वहीं से मेरी ओर इंगित कर के चिल्लाते, "भुतहा! भुतहा!" मैं उनका अभिप्राय नहीं समझता था, फिर भी उन के शब्दों में उपेक्षा और तिरस्कार का स्पष्ट भाव मुझे बहुत दु:ख देता था...

क्या मानवों की भक्ति उतनी ही अस्थायिनी है, जितना उन का प्रेम? अभी उस दिन मैं गाँव के विधाता की तरह पूजित था, इतनी स्त्रियाँ मेरे चरणों में सिर नवाती थीं और प्रार्थना करती थीं, "देवता, मेरा दु:ख मिटा दो!" मुझमें दु:ख मिटाने की शक्ति नहीं थी, पर एक मूक सहानुभूति तो थी। मेरी अचलता उन की मेरे प्रति श्रद्धा कम नहीं करती थी, बढ़ाती ही थी। पर जब उस स्त्री ने आ कर मेरे चरणों में अपना दु:ख स्वयं मिटा लिया, तब उन के हृदय से आदर उठ गया! इतने दिन से मैं दु:ख की कथाएँ सुना करता था, देखा कुछ नहीं था। उस दिन मैंने देख लिया कि मानवता का दु:ख कहाँ है, पर उस ज्ञान से ही मैं कलुषित हो गया! जब मैं दु:ख जानता ही नहीं था, तब इतने प्रार्थी आते थे। अब मैं जान गया हूँ, तब वे दु:ख-निवारण की प्रार्थना करने नहीं आते, मेरा ही दु:ख बढ़ा रहे हैं।

भक्ति तो अस्थायिनी है ही—भक्ति और प्रेम का कुछ सम्बन्ध है। मैं अभी तक प्रेम ही को नहीं समझ पाया हूँ, यद्यपि इस की मुझे स्वयं अनुभूति हुई है। भक्ति—भक्ति मैंने देखी ही तो है!

जब मेरे वे उन्माद के दिन बीत गये, जब मेरी त्वचा में कठोरता आने लगी, मेरी शाखाओं में गाँठें पड़ गयीं, तब मुझे प्रेम का नया उद्बोधन हुआ। मेरे

बिखरे हुए विचारों में फिर एक नये आशा-भाव का संचार हुआ, संसार मानो फिर से संगीत से भर गया...

कीर्त्ति—अच्छी या बुरी—कुछ भी नहीं रहती। एक दिन मैंने अपनी सत्कीर्त्ति को धूल में मिलते देखा था, एक दिन ऐसा आया कि मेरी कुकीर्त्ति भी बुझ गयी। सत्कीर्त्ति का मन्दिर एक क्षण ही में गिर गया था, कुकीर्त्ति के मिटने में वर्षों लग गये—पर वह मिट गयी। लोग फिर मेरे निकट आने लगे; पूजा-भाव से नहीं, उपेक्षा से। गाँव की स्त्रियाँ फिर मेरे चरणों में बैठने लगीं; आदर से नहीं, दर्प से, या कभी थकी होने के कारण। बालिकाएँ फिर मेरे आसपास एकत्र हो कर नाचने लगीं; न श्रद्धा से, न तिरस्कार से, केवल इस लिए कि घर से भाग कर वहाँ आ जाने में उन्हें आनन्द आता था। मेरे टूटे हुए मन्दिर का पुनर्निर्माण तो नहीं हुआ, पर उस के भग्नावशेष पर चूना फिर गया!

पर उस खँडहर से ही नयी आशा उत्पन्न हुई!

जब प्रभात होता था, मेरा शिखर तोतों के समूह से एकाएक ही कूजित हो उठता था, शीतल पवन में मेरे पत्ते धीरे-धीरे काँपने लगते थे, न-जाने कहाँ से आ कर कमलों की सुरभि वातावरण को भर देती थी, इस वल्लरी के शरीर में भी एक उल्लास के कम्पन का अनुभव मुझे होता था; जब सारा संसार एक साथ ही कम्पित, सुरभित, आलोकित हो उठता था, तब वह आती थी और उन खेतों में, जिन में छटी हुई घास में, अर्धविस्मृत अलसी और पोस्त के फूलों का प्रेत नाच रहा था, बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रहती थी। फिर जब धूप बहुत बढ़ जाती थी, जब उस का मुख श्रम से आरक्त हो जाता था, और उस पर स्वेद-बिन्दु चमकने लगते थे, तब वह हँसती हुई आ कर मेरी छाया में बैठ जाती थी।

उस की वेश-भूषा विचित्र थी। गाँव की स्त्रियों में मैंने वह नहीं देखी थी। वह प्राय: श्वेत या नीला आभरण पहनती थी, और उस के केश आँचल से ढके नहीं रहते थे। उस का मुख नमित नहीं रहता था, वह सदा सामने की ओर देखती थी। उस की आँखों में भीरुता नहीं थी, अनुराग था, और साथ ही थी

एक अव्यक्त ललकार—मानो वे संसार से पूछ रही हों, "अगर मैं तुम्हारी रीति को तोड़ूँ, तो तुम क्या कर लोगे ?"

वह वहाँ समाधिस्थ-सी हो कर बैठ रहती, उस के मुख पर का वह मुग्ध भाव देख कर मालूम होता कि वह किसी अकथनीय सुख की आन्तरिक अनुभूति कर रही हो। मैं सोचता रहता कि कौन-सी ऐसी बात हो सकती है, जिस की स्मृतिमात्र इतनी सुखद है ! कितने ही दिन वह आती रही, नित्य ही उस के मुख पर आत्म-विस्मृति का वह भाव जाग्रत होता, नित्य ही वह एक घंटे तक ध्यानस्थ रहती और आ कर चली जाती, पर मुझे उस परमानन्द के निर्झर का स्रोत न मालूम होता।

फिर एक दिन एकाएक भेद खुल गया—जिस परिहासमय देवता की उपासना मैंने की थी, वह भी उसी की उपासिका थी; किन्तु परिणाम हमारे कितने भिन्न थे !

एक दिन वह सदा की भाँति अपने ध्यान में लीन बैठी थी। उस गाँव से आने वाले पथ पर एक युवक धीरे-धीरे आया, और मेरे पीछे छिप कर उसे देखने लगा। उस का ध्यान नहीं हटा, वह पूर्ववत् बैठी रही। जब उस की समाधि समाप्त हो गयी, तब वह उठ कर जाने लगी; तब भी उसने नवागन्तुक को नहीं देखा।

वह युवक स्मित-मुख से धीरे-धीरे गाने लगा :—

> चूनरी विचित्र स्याम सजिकै मुबारक जू
>
> ढाँकि नख-सिख से निपट सकुचाति है;
>
> चन्द्रमै लपेटि कै समेटि कै नखत मानो
>
> दिन को प्रणाम किये रात चली जाति है !

वह चौंक कर घूमी, फिर बोली, "तुम—यहाँ !" उस के बाद जो-कुछ हुआ, उस का वर्णन मैं नहीं कर सकता ! वह था कुछ नहीं—केवल कोमल शब्दों का विनिमय, आँखों का इधर-उधर भटक कर मिलन और फिर नमन—बस ! पर मेरे लिए उस में एक अभूतपूर्व आनन्द था—न-जाने क्यों !

कुछ दिन तक नित्य यही होता रहा। किसी दिन वह पहले आती, किसी दिन युवक, पर दोनों ही के मुख पर वह विमुग्धता का, आत्म-विस्मृति का, भाव रहता था। जिस दिन युवक पहले आता, वह मेरी छाया में बैठ कर गाता :—

नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदु वेणुम्—
बहुमनुतेऽतनु ते तनुसंगत पवनचलितमपि रेणुम् !

और जिस दिन वह पहले आती, वह उन खेतों में घूमती रहती, कभी-कभी ओस से भीगा हुआ एक-आध तृण उठा कर दातों से धीरे-धीरे कुतरने लगती।

एक दिन वह घूमते-घूमते थक गयी, और मेरे पत्तों की सघन छाया में, इस वल्लरी के बन्धन को मेखलावत् पहन कर वैठ गयी। युवक नहीं आया।

दोपहर तक वह अकेली बैठी रही—उस के अंग-अंग में प्रतीक्षा थी, पर व्यग्रता नहीं थी। जब वह नहीं आया, तब वह कहने लगी—न-जाने किसे सम्बोधित कर के, मुझे या इस वल्लरी को, या अपने-आप को, या किसी अनुपस्थित व्यक्ति को—कहने लगी :

"यह उचित ही हुआ। और क्या हो सकता था ? अगर कर्त्तव्य भूल कर सुख ही खोजने का नाम प्रेम होता, तो—! मैं जो-कुछ सोचती हूँ, समझती हूँ, अनुभव करती हूँ, उस का अणुमात्र भी व्यक्त नहीं कर सकी—पर इस से क्या ? जो-कुछ हृदय में था—है—उस से मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है। प्रेम में दुःख-सुख, शान्ति और व्यथा, मिलन और विच्छेद, सभी हैं, बिना वैचित्र्य के प्रेम जी नहीं सकता...नहीं तो जिसे हम प्रेम कहते हैं, उस में सार क्या है ?"

वह उठी और चली गयी। मेरी छाया से ही निकल कर नहीं, मेरे जीवन से निकल गयी। पर उस के मुख पर मलिनता नहीं थी, अब भी वही आत्म-विस्मृति उस की आँखों में नाच रही थी...

मेरे लिए उस का वहीं अवसान हो गया। उस के साथ ही मानवी प्रेम की मेरी अनुभूति भी समाप्त हो गयी। शायद प्रेम की सब से अच्छी व्याख्या

ही यही है कि इतने वर्षों के अन्वेषण के बाद भी मेरा सारा ज्ञान एक प्रश्न ही में समाप्त हो जाता है—"नहीं तो, जिसे हम प्रेम कहते हैं, उस में सार क्या है ?" किन्तु इतने वर्षों में जिस अभिप्राय को, जिस सार्थकता को, मैं नहीं खोज पाता था, वह उस स्त्री के एक ही प्रश्न में मुझे मिल गयी। उस दिन मैं समझने लगा कि अभिव्यक्ति प्रेम के लिए आवश्यक नहीं है. . .उसने कहा तो था, "जो-कुछ मेरे हृदय में था—है—उस से मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है !" मैं अपना प्रेम नहीं व्यक्त कर सका, मेरा जीवन एक प्रकार से न्यून, अपूर्ण रह गया, पर इस से क्या ? उस दीप्तिमय आत्म-विस्मृति का एक क्षण भी इतने दिनों की व्यथा को सार्थक कर देता है !

मैं देखता हूँ, संसार दो महच्छक्तियों का घोर संघर्ष है। ये शक्तियाँ एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, एक ही प्रकृति की प्रगति के दो विभिन्न पथ हैं। एक संयोजक है—इस का भास फूलों से भौरों के मिलन में, विटप से लता के आश्लेषण में, चन्द्रमा से ज्योत्स्ना के सम्बन्ध में, रात्रि से अन्धकार के प्रणय में, उषा से आलोक के ऐक्य में, होता है; दूसरी शक्ति विच्छेदक है—इस का भास आँधी से पेड़ों के विनाश में, विद्युत् से लतिकाओं के झुलसने में, दावानल से वनों के जलने में, शकुन्त द्वारा कपोतों के मारे जाने में होता है. . .कभी-कभी दोनों शक्तियों का एक ही घटना में ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भौंचक हो जाते हैं, कुछ भी समझ नहीं पाते। प्रेम भी शायद ऐसी ही एक घटना है. . .

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि इतना कुछ देख और पाकर भी मैं वंचित ही नहीं, अछूत, परित्यक्त रह गया हूँ। मुझे बन्धुत्व की, सखाओं की कामना होती है; पर पीपल के वृक्ष के लिए बन्धु कहाँ है, समवेदना कहाँ है, दया कहाँ है; कभी पर्वत को भी सहारे की आवश्यकता होती है ? मैं इतना शक्तिशाली नहीं हूँ कि बन्धुओं की कामना—उग्र कामना—ही मेरे हृदय के अन्तस्तल में न हो; किन्तु फिर भी देखने में मैं इतना विशाल हूँ, दीर्घकाय हूँ, दृढ़ हूँ, कि मुझ पर दया करने का, मेरे प्रति बन्धुत्व-भाव का ध्यान भी किसी को नहीं होता ! उत्पत्ति और प्रस्फुटन की असंख्य क्रियाएं मेरे चारों ओर होती हैं, और बीच में मैं वैसे ही अकेला खड़ा रह जाता हूँ,

जैसे पुष्पित उपत्यकाओं से घिरा हुआ पर्वतशृंग...

पर उसी समय मेरे हृदय में यह भाव उठता है कि मुझे यह दुखड़ा रोने का कोई अधिकार नहीं है। मैंने जीवन में सब-कुछ नहीं पाया, बहुत अनुभूतियों से मैं वंचित रह गया, पर जीवन की सार्थकता के लिए जो-कुछ पाया है, वह पर्याप्त है। न-जाने कितनी बार मैंने वसन्त की हँसी देखी है, पक्षियों का रव सुना है, न-जाने कितनी देर मैंने मानवों की पूजा पायी है, न-जाने कितनी सरलाओं की श्रद्धापूर्ण अंजलि प्राप्त की है, और उन सब से अधिक, न-जाने कितनी बार मुझे इस अमरवल्लरी के स्पर्श में एक साथ ही वसन्त के उल्लास का, ग्रीष्म के ताप का, पावस की तरलता का, शरद् की स्निग्धता का, हेमन्त की शुभ्रता का और शिशिर के शैतल्य का अनुभव हुआ है, न-जाने कितनी बार इस के बन्धनों में बँध कर और पीड़ित हो कर मुझे अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान हुआ है! एक व्यथा, एक जलन, मेरे अन्तस्तल में रमती गयी है—कि मैं मूक ही रह गया, मेरी प्रार्थना अव्यक्त ही रह गयी—पर मुझे इस ध्यान में सान्त्वना मिलती है कि मैं ही नहीं, सारा संसार ही मूक है...जब मुझे अपनी विवशता का ध्यान होता है, तो मैं मानव की विवशता देखता हूँ; जब भावना होती है कि विश्वकर्मा ने मेरी प्रार्थना की उपेक्षा कर के मेरे प्रति अन्याय किया है, तब मुझे याद आ जाता है कि मैं स्वयं भी तो इस सहिष्णु पृथ्वी की मूक प्रार्थना का, इस की अभिव्यक्ति-चेष्टा का, नीरव प्रस्फुटन ही हूँ!

अक्तूबर, १९३१

हारिति

वह सुन्दरी नहीं थी। उस के मुख पर सौन्दर्य की आभा का स्थान तेज की दीप्ति ने ले लिया था। उस की आँखों में कोमलता न थी, वहाँ कृतनिश्चय की दृढ़ता ही झलकती थी। उस के सिर की शोभा उस पर की अलकावलियों में नहीं थी, वरन कटे हुए बालों के नीचे उस उघड़े हुए प्रशस्त ललाट में।

कहते हैं, स्त्री के जीवन में आनन्द है, स्नेह है, प्रेम है, सुख है। उस के जीवन में वे सब कहाँ थे? जब से उस ने होश सँभाला, जब से उस ने अपने चारों ओर चीन-से प्राचीन देश का विस्तार देखा; जब से उसने अपनी चिरमार्जित सभ्यता का तत्त्व समझा, तब से उस के जीवन में कितनी दुःखमय घटनाएँ हुई थीं! जब वह छः वर्ष की थी, तभी उस के पिता को जर्मन सेना ने तोप के मोहरे से बाँध कर उड़ा दिया था; क्योंकि वे 'बाक्सर' गुप्त समिति के सदस्य थे। उस के बाद १९०० वाले 'बाक्सर'-विप्लव में, जब उसकी आयु ११ वर्ष की भी नहीं हुई थी, जर्मन और अंगरेज सेना ने आ कर उस के छोटे-से गाँव में आग लगा दी थी। वहाँ के स्त्री-पुरुष सब जल गये—उन में उस की वृद्धा विधवा माता भी थी। केवल उसे, उस अनाथिनी को, जो उस समय सीक्यांग नदी से पानी भरने गयी हुई-थी, न-जाने किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किस भैरव यज्ञ में आहुतिरूप अर्पण करने के लिए, विधाता ने बचा लिया। वह गाँव की ओर आयी, तो दो-चार बचे हुए लोग रोते-चिल्लाते भागे जा रहे थे। वे उसे भी खींच कर ले गये। वह बेचारी अपनी माता के शरीर की राख भी न देख पायी। उस दिन से कैसा भीषण रहा था उस का जीवन! फूस की झोपड़ियों में रहना, या कभी-कभी सीक्यांग के किनारे, टिड्डीदल की तरह एकत्रित, अँधेरी, गन्दी, धुएँ से काली डोंगियों में पड़े रहना...उस के अभिभावक, ग़रीब मछुए, दिन में अफीम खा कर सो रहते। वह उस गर्मी में बन्द एक कोने में बैठ कर सोचा करती, कब तक देश की यह दशा रहेगी, कब तक विदेशी सिपाही इस प्रकार पहले हमारे घर जलायेंगे और फिर हमें दंड देंगे, हमारे देश से करोड़ों रुपये ले जायेंगे....

आज वह युवती थी। अभी अविवाहिता थी, पर कुमारियों के जीवन में जो आनन्द होता है, वह उसने अपने निर्दय जीवन में कभी नहीं पाया। उन मछुओं की सदय, किन्तु निर्धन, शरण से निकल कर उसने कुली का काम किया था, और उस से संचित धन से अपना शिक्षण किया था। अब वह कैंटन-सेना में जासूस का काम करती थी।

वह सुन्दरी नहीं थी। उस के जीवन ने सौन्दर्य के लिए कोई स्थान ही न छोड़ा था। उस की एक मात्र शोभा—उस के केश—भी आज नहीं रहे थे। आज वह जासूस का काम कर ने के लिए सर्वथा प्रस्तुत थी। वह प्रायः पुरुष वेश में ही रहती, कभी-कभी आवश्यकता होने पर ही स्त्री-वेश पहन लिया करती। उस की सहचरियाँ अब कभी उस से इस विषय में प्रश्न करतीं, तो वह कहती, "जिस देश में पुरुष भी गुलाम हों, उस में स्त्री होने से मर जाना अच्छा है।"

उस की बात शायद सच भी थी। चीन की दशा उन दिनों बहुत बुरी थी—अशान्ति सब ओर फैली हुई थी। इधर कैंटन में सनयात-सेन अपनी सेना का संगठन कर रहे थे। उधर से समाचार आया था कि मंचूरिया से सम्राट् का सेनापति युवान शिकाई बहुत बड़ी सेना ले कर आ रहा है। कैंटन की औद्योगिक अशान्ति का स्थान अब एक नये प्रकार के संजीवन ने ले लिया। जिधर आँख उठती, उधर ही लोग वर्दियाँ पहने नज़र आते। कैंटन-सेना स्वयंसेवी थी, युवान शिकाई की सेना में सभी वेतन पाकर काम करते थे। कैंटन-सेना के सैनिकों के आगे साम्य का आदर्श था, युवान शिकाई के आगे व्यक्तिगत लाभ का। कैंटन-सैनिकों के हृदय में प्रजातन्त्र की चाह थी, युवान शिकाई के सैनिक साम्राज्यवाद की हिली हुई नींव फिर से जमाना चाहते थे। कैंटन की सेना विश्वास के कारण लड़ती थी, युवान शिकाई की लोभ के कारण। पर कैंटन के सैनिक बहुत थोड़े थे, और उन के विरुद्ध युवान शिकाई एक शस्त्रवेष्ठित प्रलय-लहरी लिए बढ़ा आ रहा था। उन थोड़े से गुप्तचरों को दिन-रात अनवरत काम करना पड़ता था; कभी इधर, कभी उधर, कभी सन्देश पहुँचाना, कभी ख़बरें लाना—कभी-कभी एक-एक रात में चालीस-चालीस मील तक

पैदल चलना पड़ जाता था; पर उन के सामने जो आदर्श था, हृदय में जो दीप्ति थी, वह उन्हें प्रोत्साहित करती, उन्हें शक्ति प्रदान करती, उन्हें विमुख होने से बचाती थी।

पर सभी के हृदय में वह आदर्श—वह दीप्ति नहीं थी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जिन के हृदय में दूसरी इच्छाओं, दूसरी आशाओं, दूसरी स्मृतियों ने घर कर रखा था। जिन का ध्यान युवान शिकाई की प्रगति की ओर नहीं, प्रणय की प्रगति की ओर था; जिन के मन में दृढ़ विश्वास का आलोक नहीं, विरह का प्रज्वलन था। पर जिस तरह कसौटी पर चढ़ने से पहले सभी धातुएँ सोने की तरह सम्मानित होती हैं, उसी तरह वे भी संघर्ष से पहले सच्चे वीरों में गिने जाते थे। जिस महान् परीक्षा से पृथक्करण होना था, वह अभी आरम्भ नहीं हुई थी।

वह नित्यप्रति जब उठ कर अपनी मर्दानी वर्दी पहनती, तो किसी अनियन्त्रित शक्ति से प्रार्थना किया करती: "शक्ति! मुझे इतनी दृढ़ता दे कि कि मैं उस आनेवाली परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकूँ। मैं स्नेह से वंचित रही हूँ, अनाथिनी हूँ, प्रेम करने का अधिकार मुझे नहीं है—मैं दासी हूँ। कीर्त्ति की मुझे इच्छा नहीं है—गुलाम की क्या कीर्त्ति; पर मुझे पथ-भ्रष्ट न करना, मुझे विश्वास के आयोग्य न बना देना।"

फिर वह शान्त हो कर अपने तम्बू से बाहर निकल आती, और दिन-भर दत्तचित होकर अपना काम करती। दिन में उसे कभी अनिश्चय का, अविश्वास का, कातरता का अनुभव न होता। सभी उस के प्रशस्त ललाट, उस के प्रोज्ज्वल नेत्र, उस के तेजोमय मुख को देख कर विस्मित रह जाते।

घनघोर वर्षा हो रही थी। पाँच दिन से वह अविरल जल-धारा नहीं रुकी थी। वह पीतवर्णा, कृशकाया सीक्यांग आज घहर-घहर करती बह रही थी। उस का पाट पहले से दुगना हो गया था, और रंग बदल कर लालिमामय हो

रहा था। उस के किनारे, वहीं जहाँ दस वर्ष पहले अंगरेज और जर्मन सेना ने एक छोटे-से गाँव को अधिवासियों-सहित जला दिया था, आज एक बड़ा फौजी शिविर था, और कितनी ही छोटी-छोटी छोलदारियाँ इधर-उधर लग रही थीं।

वर्षा हो रही थी, पर कैंटन के सेना के उस शिविर में उस की बिलकुल उपेक्षा थी। कितने ही सैनिक चुपचाप अपने स्थानों पर खड़े पहरा दे रहे थे। उन की वर्दियाँ भीग गयी थीं। बूट कीचड़ से सन गये थे। हाथों की उँगलियों पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं; पर वे अपने स्थानों पर सावधान खड़े थे।

रात बहुत बीत चुकी थी, छोलदारियों में अँधेरा था। केवल बीचवाले एक बड़े तम्बू में प्रकाश था। उस के बाहर बहुत से पहरेदार थे। वे एक दूसरे के सामने खड़े थे। फिर भी कोई किसी से बात नहीं कर रहा था...

एकाएक भीतर से आवाज आयी, "क्वेनलुन!"

एक पहरेदार अन्दर गया, और क्षण भर में बाहर आ कर छोलदारियों की ओर चला गया।

थोड़ी देर में वह लौट आया। अब वह अकेला न था। उस के साथ थी एक स्त्री, जिस का शरीर एक भूरे फ़ौजी कम्बल से ढँका था, पर सिर खुला था, उस पर केश कटे हुए थे।

दोनों अन्दर चले गये।

अन्दर एक बड़े गैस-लैम्प के प्रकाश में चार-पाँच अफसर बैठे हुए थे। एक कुछ चिट्ठियाँ पढ़ रहा था। एक ने दो-तीन नक्शे अपने आगे बिछा रखे थे, और उन्हें ध्यान से देख रहा था—कभी-कभी पेंसिल से उन पर चिन्ह भी लगा देता था। एक और बैठा हुआ लिख रहा था। उस की वर्दी की ओर देखने से मालूम पड़ता था कि वह कर्नल था। और बाकी सब उस से छोटे पद के थे। पहरेदार और वह स्त्री कर्नल के आगे सलाम करके खड़े हो गये। उसने कुछ देर ध्यान से स्त्री की ओर देखा, और बोला, "नम्बर ४७४ ?"

स्त्री ने शान्त-भाव से उत्तर दिया, "जी हाँ।"

"तुम कैंटन में डायना पेइफ़ू का घर जानती हो ?"

"जी हाँ, वह नदी के किनारे ही एक लाल मकान में रहती है।"

"हाँ।"

कर्नल ने एक पत्र निकाला, और उस पर मुहर लगा कर उसे दे दिया। फिर कहा, "नम्बर ४७४, यह पत्र उन्हें पहुँचाना है।"

"कब तक ?"

"वैसे तो कोई जल्दी नहीं है, पर बाढ़ आ रही है, शायद रात-रात में रास्ता बन्द हो जाय।"

"बहुत अच्छा।" कह कर वह जाने लगी।

जो व्यक्ति नक्शा देख रहा था, उसने कहा, "कर्नल, यहाँ से कैंटन के रास्ते में तो युवान शिकाई की सेना पहुँच रही है।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। नम्बर ४७४ !"

"जी हाँ।"

"हांकाऊ से समाचार ले कर तुम्हीं आयी थीं न ?"

"जी हाँ।"

"फिर तुम्हें पूरी स्थिति मालूम ही है। अपने साथ दस चुने हुए आदमी लेती जाओ।"

"बहुत अच्छा।"

"तुम्हारे पास वह जासूस का चिन्ह है ?"

"नहीं, मैंने हांकाऊ से आते ही उसे वापस कर दिया था। अब आप दे दें।"

कर्नल ने जेब में से चाँदी का बना हुआ एक छोटा-सा चीनी अजगर निकाला, और देते हुए बोला, "हमें तुम पर पूरा विश्वास है।"

उस स्त्री ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप विचित्र चिन्ह ले कर सलाम कर के चली गयी। कर्नल ने लिखना बन्द कर दिया। एक हल्की-सी सन्तुष्ट हँसी उस के मुँह पर दौड़ गयी।

*

"क्या बात थी, हारिति ?"

"कुछ नहीं, एक दौड़ और लगानी होगी।"

"कहाँ की ?"

"कैंटन ।"

"पर अभी कल ही तो तुम हांकाऊ से आई थीं ?"

"तो क्या ? काम तो करना ही होता है ।"

"ये नब्बे मील अकेली ही जाओगी ?"

"नहीं, साथ दस आदमी और जायँगे ।"

"पर जो बाढ़ आ रही है—"

"उस से आगे बढ़ना होगा । अगर कैंटन का पुल पार कर लूँगी, तो हमारी जीत है ।"

"और अगर न कर पायीं तो ?"

"तैरना जानती हूँ—मछुओं के यहाँ पली हुई हूँ ।"

"हारिति ?"

"हाँ, क्या है ?"

"मुझे साथ ले चलोगी ?"

"क्यों ?"

"यों ही तुम्हारे साथ जाने को जी चाहता है ।"

"पर फिर मेरे बाद यहाँ किसी की ज़रूरत हुई तो ?"

"तुम वापस नहीं आओगी ?"

"पता नहीं । कैंटन में जो आज्ञा मिलेगी, वही माननी होगी । फिर शायद यहाँ से तुम को भी जाना पड़े—युवान शिकाई बहुत पास आ पहुँचा है ।"

"फिर तो तुम नहीं आओगी, हारिति !"

हारिति कुछ बोली नहीं । उसने चुपचाप अपनी मर्दानी वर्दी पहनी, और कोट के अन्दर वह चीनी अजगर लगा लिया । फिर बिना कुछ कहे ही वह छोलदारी से बाहर निकल गयी ।

•

"क्वानयिन ! क्वानयिन !"

"कौन है ?"

"मैं हूँ, हारिति।"

"इस समय क्या काम है, हारिति ?"

"काम मिला है, अभी जाना होगा। वर्दी पहन कर बाहर आओ।"

"इतनी रात को काम ? कितनी दूर जाना है ?"

"बहुत दूर। समय नहीं है, जल्दी करो।"

"लो, आया, और कौन साथ जायगा ?"

"तुम्हीं नौ आदमी चुन कर ले आओ—मैं घोड़े चुनने जाती हूँ।"

"अच्छा, मैं फाटक पर अभी पहुँचता हूँ; पर इतने आदमी क्या होंगे ?"

हारिति ने धीरे से कहा, "रास्ते में युत्रान शिकाई की सेना से मुठभेड़ की आशंका है।"

"अच्छा, फिर तो पूरी तैयारी करनी होगी ?"

"हाँ, पर जल्दी।"

हारिति चली गयी। उस के बाद छोलदारी के अन्दर से बहुत कोमल ध्वनि आयी, "हारिति, हारिति, कितनी दृढ़ हो तुम ? मैं कभी तुम्हारी बराबरी कर सकूँगा ?"

हारिति वहाँ सुनने को या उत्तर देने को नहीं खड़ी थी।

वर्षा अभी भी हो रही थी। सीक्यांग का नाद घोरतर होता जा रहा था। उस की अरुणिमा बढ़ती जा रही थी....

वे ग्यारह व्यक्ति रास ढीली किये, घोड़े दौड़ाये जा रहे थे। कोई कुछ बोलता नहीं था, पर हर एक के मन में न-जाने क्या-क्या विचार उठ कर बैठ जाते थे। किसी के हृदय में भय न था, पर कितने चौकन्ने हो कर वे चारों ओर देखते जाते थे!

वर्षा की और नदी की ध्वनि में उन घोड़ों के दौड़ाने की ध्वनि डूब गयी थी। उन की प्रगति काल के प्रवाह की तरह रवहीन किन्तु अविराम मालूम हो रही थी। किसी महती कामना की प्रतिच्छाया की तरह शान्त, किसी बे-रोक

मशीन की तरह नियन्त्रित, वे घोड़े जा रहे थे। और उन के सवार धीरे-धीरे हिसाब लगाते जाते थे कि इस गति से कब पुल पार करेंगे—करेंगे भी या नहीं...

नदी भी बढ़ी चली जा रही थी। उस के प्रवाह में दर्प था, अवमानना थी, सिंह का गर्जन था, और थी प्रकांड प्रलयकामना। घोड़ों के उस क्षुद्र प्रयत्न को कितनी उपेक्षा से देख रही थी वह, और मानो हँस कर कह रही थी—प्रकृति के प्रवाह को ललकारोगे, जीतोगे, तुम !

"हारिति, कुछ सुनायी पड़ता है ?"

"नहीं। क्या है ?"

"मुझे भ्रम हुआ कि मैंने कहीं गोली चलने की आवाज़ सुनी।"

"सम्भव है। हमारा सब सामान तो ठीक है न ?"

"हाँ, चिन्ता की कोई बात नहीं।"

क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, वह देखते हो ?"

"किधर ?"

"वह दाहनी ओर। कहीं आग का प्रकाश है।"

"हाँ, हाँ—"

"वह है शत्रु का शिविर।"

"हमने गोलियाँ भर रखी हैं। कितनी दूर और जाना है ?"

"अभी बहुत है—कोई ३५ मील।"

"पुल कितनी दूर है ?"

"तीस मील।"

फिर क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, साथियों को सावधान कर दो। लड़ाई होगी। वे घुड़सवार हम से भिड़ने आ रहे हैं।"

"रुक कर लड़ना होगा ?"

"नहीं। रुकने का समय नहीं है। हम बढ़ते जायँगे।"

"पर---"

"क्या ?"

"हमारे घोड़े थक गये हैं।"

"फिर ?"

"हमें रुक कर लड़ना चाहिए, और उन के घोड़े छीन लेने चाहिए।"

"और अगर हमारे घोड़े भी मारे गये तो ?"

"घोड़ों पर से उतर कर अलग हट कर लड़ेंगे, उन्हें बचा लेंगे।"

"वे बहुत आदमी हैं, हम थोड़े।"

"वे वेतन के लिए लड़ते हैं, जान देने के लिए नहीं।"

"अच्छा, जैसा तुम उचित समझो।"

घोड़े रुक गये। उन्हें इकट्ठा खड़ा कर दिया गया। हारिति उन के पास खड़ी हो गयी। क्वानयिन और उसके साथी कुछ आगे हट कर खड़े हो गये।

ठाँय ! ठाँय ! ठाँय !

एक साथ ही दस गोलियाँ चल गयीं। आक्रमणकारियों ने अपने घोड़े रोक लिये, और अन्धकार में देखने की चेष्टा करने लगे कि गोलियाँ कहाँ से आयी थीं।

ठाँय ! ठाँय ! ठाँय !

फिर दस गोलियाँ छूटीं। अब की बार उत्तर आया।

हारिति चुपचाप देख रही थी। जब शत्रु-पक्ष की ओर से बौछार आती, तब वह कुछ चिन्तित हो कर पूछती, "क्वानयिन, कहाँ हो तुम ?" और वह हँस कर उत्तर देता---"हारिति, हमारी जीत होगी।" फिर वह शान्त हो जाती थी।

एकाएक गोली चलनी बन्द हो गयी। क्वानयिन बोला, "हारिति, वे भाग रहे हैं---हम घोड़े पकड़े लेते हैं !"

थोड़ी देर में आठ नये घोड़े एकत्रित हो गये। हारिति, क्वानयिन और पाँच अन्य व्यक्तियों ने घोड़े वदल लिये। बाकी उस लड़ाई में खेत रहे थे...

"क्वानयिन, अपने घोड़ों का क्या करना होगा?"

"यहीं छोड़ दिये जायँ?"

"शत्रुओं के लिए? नहीं, उन्हें खाली साथ ले चलेंगे!"

"और जो न दौड़ सकते हों?"

"उन्हें गोली मार देंगे।"

"हारिति!"

"क्या है?"

"कुछ नहीं, चलो।"

फिर वही होड़, वही सीक्यांग के प्रवाह से प्रतियोगिता, वही निःशब्द प्रगति...

"हारिति!"

"क्या है?"

"वे फिर आ रहे हैं।"

"आने दो। अब रुकना नहीं होगा।"

"एक बात कहूँ?"

"कहो।"

"तुम आगे चली जाओ, हम रुक कर उन से युद्ध करते हैं।"

"क्यों?"

"अब की बार उन्हें भगा नहीं सकेंगे, कुछ देर रोक ही पायेंगे।"

"फिर क्या होगा?'

"होगा क्या? यदि रोक सकेंगे, तो अच्छा। नहीं तो—"

"नहीं तो क्या?"

"मैं फिर तुमसे आ मिलूँगा।"

क्षण-भर निस्तब्धता ।

"क्वानयिन !"

"हारिति !"

"तुम ठीक कहते हो, मैं अकेली ही जाती हूँ ।"

"जाओ । शायद मैं फिर आ मिलूँ ।"

"शायद—"

रात्रि के अन्धकार का रूप कुछ बदलने लगा था । बादल अब भी घिरे हुए थे । वर्षा अब भी हो रही थी । पर जहाँ पहले एकदम निविड़ अन्धकार था, वहाँ अब कुछ भूरा, कुछ सफेद, मिश्रित-सा अन्धकार हो गया था। और धरती पर से भाप उठ कर जमने लग गयी थी । पहले की प्रगाढ़ नीलिमा में जो वस्तुएँ कुछ अस्पष्ट दीखतीं थीं, वे अब एकदम लुप्त हो गयी थीं । अभी उषा के लालिमामय आगमन में बहुत देर थी । सीक्यांग का पुल भी अभी दस मील दूर था । हारिति थक गयी थी । उस का घोड़ा भी थक गया था । और उन बिछुड़े हुए साथियों की, क्वानयिन की, स्मृति उसे खिन्न कर रही थी; पर उस के हृदय में जो शक्ति थी, जिस के आगे उस ने इतनी बार दृढ़ता की भिक्षा माँगी थी, वह शक्ति आज उस की सहायता कर रही थी, उस के शरीर में नयी स्फूर्ति का संचालन कर रही थी । उसने घोड़े की गति धीमी नहीं की थी; जिस गति से यात्रा का आरम्भ किया था, उसी से अब भी चली जा रही थी । उस के पीछे एक और सवार चला आ रहा था; पर उसे इस का ध्यान न था । वह पीछे नहीं देखती थी, न उसे पीछे से घोड़े की टाप सुन पड़ती थी । उस का ध्यान उस क्रमशः घटते हुए दस मील के अन्तर पर स्थिर था ।

वह सवार धीरे-धीरे पास आ रहा था । जब वह कुछ ही पीछे रह गया, तब उसने पुकारा, "हारिति, मैं आ गया ।"

हारिति के मुख पर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गयी, पर उसने घोड़े को रोका नहीं । जब क्वानयिन बिलकुल उस के बराबर आ गया, तब उसने पूछा, "क्वानयिन, बाकी साथी कहाँ रहे ?"

क्वानयिन ने बिना उस की ओर देखे ही उत्तर दिया, "नहीं रहे।"

बहुत देर तक दोनों चुपचाप बढ़ते गये। फिर हारिति बोली, "और घोड़े?"

"मर गये। मैं भी दूसरा घोड़ा लेकर पहुँच पाया हूँ।"

"शत्रु कहाँ हैं?"

"बहुत पीछे रह गये हैं।"

"फिर मुठभेड़ की सम्भावना है?"

"अवश्य।"

"क्यों?"

"उन्हें शक हो गया है कि हम पत्र-वाहक हैं, और हम से कुछ पाने की आशा है।"

हारिति कुछ हँसी। "कुछ पा लेने की आशा! कितने मूर्ख हैं वे!"

"क्यों?"

"कैंटन के सैनिक धन के लिए विश्वास नहीं बेचते!"

कुछ देर चुप रह कर क्वानयिन बोला, "हारिति, कैसी रहस्यमयी स्त्री हो तुम! अगर—"

"देखो क्वानयिन, ऐसी बातों से मुझे दुःख होता है।"

"क्यों?"

"हम ग़ुलाम हैं। हमें अपने आदर्श के अतिरिक्त किसी बात का ध्यान करने का अधिकार नहीं है।"

क्वानयिन ने धीमे स्वर में कहा, "सच कहती हो हारिति! मैं बार-बार भूल जाता हूँ।" और फिर चुप हो गया।

"दो मील।"

"पर हम इतना जा पायेंगे, हारिति! वह देखो, शत्रु कितना पास आ गये हैं।"

"कोई चिन्ता नहीं। हम पुल पार कर लेंगे, फिर इनका डर नहीं रहेगा।"

"पर पुल तक के दो मील..."

"गति तेज़ कर दो। अब तो इन्हें रोकने का भी प्रयत्न नहीं कर सकते।"

"मेरे पास पाँच भरे हुए पिस्तौल हैं, और यह बन्दूक तो है ही।"

"पाँच पिस्तौल!"

"हाँ, अपने साथियों के उठा लाया हूँ।"

"दो मुझे दे दो। शायद—"

क्वानयिन ने जेब से निकाल कर दो पिस्तौल उसे पकड़ा दिये। उसने उन्हें अपने कोट में डाल लिया, और बोली, "अगर निर्णय ही करना होगा, तो पुल पर करेंगे। वहाँ बना-बनाया मोर्चा मिल जायगा।"

"पर दो आदमी मोर्चे की क्या रक्षा करेंगे?"

"शायद पार निकल सकें। नहीं तो—"

"क्या?"

"इतने दिन सीक्यांग के ऊपर रही हूँ, आज उसके नीचे तो आश्रय मिल ही जायगा।"

"हारिति!"

"वह देखो क्वानयिन सामने! पुल आ गया।"

"प्रजातन्त्र की जय!"

प्राची दिशा से बादलों को चीर कर फीका पीला-सा प्रकाश निकल रहा था। उस के सामने ही सीक्यांग के प्रमत्त प्रवाह के ऊपर पुल का जँगला दीख रहा था। कितना विमुग्धकारी था वह दृश्य, और साथ ही कितना निराशापूर्ण! नदी की सतह पुल की पटरियों को छू रही थी। कभी-कभी किसी लहर का पानी पुल के ऊपर से भी छलक जाता था। और ठीक मध्य में, जहाँ नदी का प्रवाह सब से अधिक था, पुल का एक अंश टूट कर बह गया था। दोनों ओर से दो पटरियाँ आतीं, और बीच में लगभग २०-२२ फुट का खुला स्थान छोड़ कर ही समाप्त हो जातीं। उस स्थान में केवल विपुल जल-प्रवाह का गर्जन और उस की अथाह अरुणिमा ही थी।

"हारिति, वह देखा, क्या है!"

"मैंने देख लिया है।"

"अब क्या करना होगा ?"

हारिति ने कुछ उत्तर नहीं दिया। रास खींच कर घोड़ा रोक लिया। क्वानयिन ने भी उस का अनुसरण किया। हारिति ने मुड़ कर पीछे की ओर देखा, शत्रु अभी आध मील दूर थे। क्षण-भर वह अनिश्चित खड़ी रही; फिर बोली, "क्वानयिन, हमारी परीक्षा का समय आ गया।"

क्वानयिन कुछ नहीं बोला। प्रतीक्षा के भाव से हारिति के मुख की ओर देखने लगा। हारिति घोड़े पर से उतर पड़ी। क्वानयिन ने भी उतरते हुए पूछा, "क्या करोगी ?"

"बताती हूँ।" कहकर वह अपने पुराने घोड़े पर सवार हो गयी। "देखो क्वानयिन, तुम यहाँ खड़े हो कर मोर्चा लेना, मैं जा रही हूँ।"

'कहाँ ?"

"पार।"

"कैसे ?"

"कूद कर।"

"कूद कर ! यह तुमसे नहीं होगा, हारिति ! तुम्हारा घोड़ा भी तो थका हुआ है।"

"मैंने निश्चय कर लिया है। और कोई उपाय नहीं।"

क्वानयिन ने अनिच्छा से कहा, "तो नया घोड़ा ही ले जातीं।"

"उस का मुझे अभ्यास नहीं। पुराना घोड़ा ही ले जाना होगा।"

हारिति ने जल्दी से अपना कोट उतारा और पिस्तौल क्वानयिन को दिये। वह चाँदी का अजगर चिन्ह उसने अपनी कमीज़ में लगा लिया, और पत्र को अच्छी तरह लपेट कर कमरबन्द में रख लिया।

"हारिति, यह क्या कर रही हो ?"

"शायद कूद न पाऊँ, व्यर्थ का भार नहीं रखना चाहिए।"

"हारिति, क्या यह विदा है ?"

"हाँ। वह देखो, शत्रु आ रहे हैं। मुझे विदा दो।"

"तुम्हारे बाद मुझे क्या करना होगा ?"

हारिति क्षण-भर स्थिर दृष्टि से क्वानयिन की ओर देखती रही। फिर बोली, "शायद कुछ भी नहीं करना होगा। अगर--अगर बच गये, तो पार कूद आना, और क्या करोगे?"

"जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो, मैं भी अवीर न होऊँगा।"

हारिति ने झुक कर घोड़े का गला थपथपाया, और बोली, "बन्धु, अब मैं फिर वही अनाथिनी रह गयी हूँ। मेरी मदद करना।" उसने घोड़े को ऐंड़ लगायी, रास ढीली कर दी। घोड़ा उन गीली पटरियों पर दौड़ा। हारिति कुछ आगे झुकी।

ठाँय! ठाँय! ठाँय!

शत्रु पहुँच गये। क्वानयिन हारिति को कूदते हुए भी नहीं देख पाया। उसने शत्रुओं का बन्दूक से जवाब दिया, और फिर पिस्तौल उठा लिये।

क्षण-भर के लिए आक्रमणकारी रुक गये। क्वानयिन ने घूम कर देखा।

पुल की पटरियाँ दोनों ओर खाली थीं। उसने देखा, हारिति के घोड़े के अगले पैर पुल के टूटे हुए भाग के उस पार की पटरियों पर पड़े, किन्तु पिछले पैर नीचे स्तम्भ में टकराये, फिसले, और फिर घोड़े समेत हारिति उसी अथाह अरुणिमा में गिर गयी।

क्वानयिन धीरे-धीरे पुल पर हटने लगा। शत्रु आगे बढ़ते आ रहे थे। उस खुले स्थान में क्वानयिन ने देखा, हारिति का घोड़ा अभी डूबा नहीं था, एक बहुत बड़े भँवर में फँस कर घूम रहा था। तैर कर निकलने की उसकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो रही थीं, और हारिति उस पर बैठी शायद कुछ सोच रही थी।

क्वानयिन ने चाहा, मैं भी कूद पड़ूँ, शायद उसे बचा पाऊँ। फिर उसे हारिति के शब्द याद आये,—"हमारी परीक्षा का समय आ गया।" उसने मन-ही-मन कहा—"हारिति हमारे कर्त्तव्य अलग-अलग हैं। तुम अपना करो, मैं अपना। मैं शत्रु को रोकता हूँ, तुम्हें कैसे बचाऊँ?" फिर वह एकाग्र हो कर निशाना लगाने और युवान शिकाई के सैनिकों को उड़ाने लगा।

हारिति सँभल कर उठी, और घोड़े की पीठ पर खड़ी हो कर बोली, "वन्धु, तुमने तो मेरी सहायता की, अब मैं तुम्हें छोड़ कर जा रही हूँ।" फिर उसने एक लम्बी साँस ली, और उछल कर पानी में कूद पड़ी—भँवर के बाहर।

गोलियाँ अभी चल रही थीं। एक गोली क्वानयिन के कन्धे में लगी, एक पैर में। उसने अब शत्रु की चिन्ता छोड़ दी। उस की आँखें हारिति को ढूँढ़ने लगीं। पुल से कुछ दूर उसने देखा, एक केशहीन सिर। हारिति तैरती जा रही थी। घोड़े का कहीं पता न था।

क्वानयिन ने कहा, "हारिति, मेरा काम पूरा हुआ।"

उस ने पिस्तौल उठाया, और अपने माथे के पास रखा। फिर—

"प्रजातन्त्र की जय!"

जब शत्रु वहाँ पहुँचे, तो क्वानयिन का प्राणहीन शरीर वहाँ पड़ा था। उस के मुख पर विजय का गर्व था। उन्होंने जल्दी-जल्दी उसके कपड़ों की तलाशी ली, फिर धीरे-धीरे ली। कुछ न मिला। क्रुद्ध हो कर उन्होंने ठोकरें मार-मार कर उस के शरीर को नदी में गिरा दिया। वह कुछ देर चक्कर खा कर डूब गया। कुछ बुलबुले उठे, फिर सीक्यांग का प्रवाह पूर्ववत् हो गया। युवान शिकाई के सैनिकों ने देखा कि दूर पानी में कोई तैर रहा है। उन्होंने उस का ही निशाना ले कर गोलियाँ चलानी प्रारम्भ कर दीं। कितनी ही देर तक वे गोलियाँ चलाते रहे। धीरे-धीरे उस व्यक्ति का दीखना बन्द हो गया, शायद डूब गया, या उस अनियन्त्रित प्रवाह में बह गया। वे लौट गये।

कैंटन के बाहर, सीक्यांग के किनारे, बहुत से मछुए आ कर बैठे हुए थे। कुछ पकड़ने की आशा से नहीं, केवल इसी चिन्ता का निवारण करने के लिए कि बाढ़ कब उतरेगी। सूर्य का उदय हो गया था। बादल फट रहे थे। वर्षा का अन्त होने वाला था, पर नदी में पानी अभी बढ़ता जा रहा था, और वे मछुए बैठ कर देख रहे थे। कोई कह रहा था—"बाढ़ से एक फायदा है। युवान शिकाई इस पार नहीं आ सकेगा।"

कोई और पूछ रहा था, "सुना है, युवान शिकाई की सेना कुल पचास मील दूर रह गयी है। क्या यह ठीक बात है ?"

एक तीसरा बोला, "हमारी सेना में बहुत अच्छे-अच्छे आदमी हैं। हमारी हार नहीं हो सकती।"

दूर कहीं कोलाहल हुआ—"वह देखो, क्या है ? कोई मरा हुआ जानवर बह रहा है ! नहीं-नहीं, यह तो आदमी है, आदमी !"

सब लोग उधर देखने लगे। फिर कहीं से दो आदमी, एक छोटी-सी नाव पर बैठ कर, तीव्र गति से उधर चले। उन्होंने दो-तीन बार जाल डाला, पर असफल हुए। फिर किनारे पर खड़े दर्शकों ने देखा कि वे दोनों धीरे-धीरे कुछ खींच रहे हैं।

थोड़ी देर में उन्होंने एक शरीर निकाल कर नाव में रखा और किनारे चले आये।

दर्शकों की भीड़ लग गयी। सब अपने-अपने मत का दिग्दर्शन करने लगे।

"कैसा बाँका जवान है।"

"अभी बिलकुल बच्चा है।"

"वह देखो, बाँह से खून निकल रहा है।"

"फौजी वर्दी पहने हुए है।"

"युवान शिकाई का आदमी तो नहीं है ?"

"नहीं, सिर पर चोटी नहीं है, कैंटन का ही सिपाही होगा।"

"यह बाँह में गोली लगी है।"

"कितना खून बह गया है, पीला पड़ गया है।"

"मर गया है।"

"नहीं, अभी जीता है।"

वह शरीर कुछ हिला, फिर उसने आँखें खोलीं, "मैं कहाँ हूँ ?"

"यह है कैंटन। कहाँ से आ रहे हो ?"

"कैंटन, वह लाल मकान !"

आँखें फिर बन्द हो गयीं। थोड़ी देर बाद शरीर में कम्पन हुआ, आँखें खुलीं। उन में एक विचित्र तेज था।

"मुझे उठा कर ले चलो।"

"कहाँ ?"

"वह बड़ा मकान—डायना पेइफू का—उस में!" वे उसे उठा कर सावधानी से धीरे-धीरे ले चले।

"जल्दी! जल्दी!"

वे तेज चलने लगे, तब भी उसे सन्तोष न हुआ।

"और जल्दी!"

वे दौड़ने लगे।

थोड़ी देर में उस मकान के सामने पहुँच गये। वह शरीर फिर संज्ञाशून्य हो गया था।

उसने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। वह एक बड़े सुन्दर कमरे में सोफे पर पड़ी हुई थी। पास एक स्त्री खड़ी हुई थी। आँखें खुलती देख कर उसने चिन्तित स्वर में पूछा, "अब कैसा हाल है ?"

हारिति ने प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बोली, "आप ही डायना पेइफू हैं ?"

"हाँ, कहिए!"

"आप के लिए एक पत्र है।"—हारिति ने पत्र निकालने का प्रयत्न किया, पर हाथों में शक्ति नहीं थी। अपने कमरबन्द की ओर इंगित करके ही वह रह गयी।

डायना ने स्वयं पत्र निकाला, और खोला। उस का मुख लाल हो गया। आँखें लज्जा से कुछ झुक गयी। उसने पत्र को चूम लिया, और धीरे से कहा, "प्रियतम!"

हारिति देख रही थी। यह दृश्य देख कर उसके नेत्रों का तेज एकाएक बुझ गया। उसने आँखें मूँद लीं। दो-तीन चित्र उस के आगे दौड़ गये—दो-तीन स्मृतियाँ—वे मरते हुए बन्धु—वह दीन घोड़ा—क्वानयिन और उस के

शब्द—"हारिति, हमारी जीत होगी।" "हारिति, क्या यह विदा है ?" "जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो—मैं भी अधीर नहीं होऊँगा।"

व्यथा की एक रेखा उस के मुख पर दौड़ गयी। यही था काम, जिस के लिए उसने इतनी मेहनत की थी; यही थी सेवा, जिस के लिए उसने इतना बलिदान किया था; यही था अनुष्ठान, जिस की पूर्ति के लिए उसने उस घोड़े की, उन बन्धुओं की, और क्वानयिन—क्वानयिन की आहुति दी थी—यह प्रेम-प्रवंचना !

हारिति को मालूम हुआ, उस का गला घुट रहा है। उस के निर्बल शरीर में एकाएक स्फूर्ति आ गयी। उसने एक झटके में अपनी मोटी कमीज फाड़ डाली। उस के मुख पर एक आन्तरिक विचार-तरंग की झलक, एक हलकी-सी हँसी छा गयी—एक हँसी, जिस में सफलता की शान्ति नहीं थी, विजय का गर्व नहीं था, था केवल एक भयंकर उपहासमय तिरस्कार।

डायना ने उस की ओर देखा और चौंकी। उस के मुख पर से वह अनुराग की आभा बुझ गयी। हारिति के वक्ष की ओर देखती हुई विस्मित, चिन्तित, भीत-स्वर में वह बोली, "ओह ! तुम—तुम तो स्त्री हो !"

पर तब हारिति स्त्री नहीं रही थी। वहाँ जो पड़ा हुआ था, वह था केवल किसी स्वर्गीय व्यक्ति का परित्यक्त शरीर !

और हारिति के उर पर पड़ा हुआ वह चीनी अजगर मानों उस के मुख पर व्यक्त उस तिरस्कार को प्रतिबिम्बित कर के हँसे जा रहा था।

अक्तूबर, १९३१

गृहत्याग

Let us rise up and part : no one will know.
Let us go seaward as the great winds go
Full of blown sand and foam : what help is here ?

—स्विनबर्न

"कितने भोले थे हम—जो सच्चे दिल से इस शिक्षा को अपना कर सन्तुष्ट हो गये !" कह कर बूढ़े ने एक बहुत लम्बी साँस ली और उठ खड़ा हुआ। खड़े हो कर एक बार उसने अपने चारों ओर देखा, फिर धीरे-धीरे खिड़की के पास जा कर चौखट पर बैठ गया, और घुटने पर ठोड़ी टेक कर धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा।

खिड़की के बाहर कोई बहुत सुन्दर दृश्य हो, यह बात नहीं थी। वह घर जिसकी कोठरी में वृद्ध बैठा था, मद्रास नगर की एक बहुत छोटी, बहुत गन्दी गली में था, और उस कोठरी तक सूर्य्य का प्रकाश कभी नहीं आ पाता था... उस खिड़की के बाहर का दृश्य—एक तंग गली, जिसके दोनों ओर नालियाँ बह रही थीं, जिस में छोटे-छोटे श्यामकाय बच्चे खेल रहे थे....इस के ऊपर एक पकौड़ी की दूकान थी जिस में एक तेल के कड़ाहे के पास बैठी एक बुढ़िया धीरे-धीरे कुछ गा रही थी...कभी-कभी वह रुक कर कीच से लथपथ लड़कों को धमकी देती थी, जिस से वे दूर भाग जाते थे और फिर नाली की कीच में कूद पड़ते थे...

बूढ़ा इसी दृश्य को देख रहा था—या इसी दृश्य में किसी सुदूर प्रदेश की कल्पना किये बैठा था....और वह धीरे-धीरे गुनगुनाता जाता था, मानों तेल से उठते हुए धुएँ से बातचीत कर रहा हो।

कमरे में वृद्ध अकेला ही था—बहुत अकेला। इतना अधिक अकेला कि उसे अपने वहाँ होने का भी ज्ञान नहीं था—उस के मुख से शब्द बिना आयास के या नियन्त्रण के निकलते जान पड़ते थे और ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वयं उन्हें सुन नहीं रहा—न समझ ही रहा है...

"कितने भोले थे हम...इतने बड़े जीवन में हम एक इतनी बात भी नहीं

जान पाये कि स्वत्व क्या है...हमारे लिए वह एक सैद्धान्तिक चीज़ थी, हम उस की परिभाषा कर सकते थे...किन्तु हमने उस का उपभोग कभी नहीं किया, न हमें उस की कुछ अनुभूति ही है...

"कारखाने के निर्दय कार्य-क्रम से समय बचाकर हमने किताबें माँग-माँग कर पढ़ना शुरू किया, तो क्या पढ़े ? वही हृदय को जलानेवाली शिक्षा—जिसके सिद्धान्त बचपन से ही हमारे वक्षस्थल पर अमिट अक्षरों में खुद गये थे। हम, जो जन्म के समय से वंचित, छलित, विवस्त्र, विवृत, विदग्ध थे, पढ़-लिख कर भी यही सीखे कि सम्पत्तिहीन हो कर भी हमें शिकायत नहीं करनी चाहिए—क्योंकि जिन अधिकारों से हम वंचित रह गये, वे व्यक्तिगत होने ही नहीं चाहिए, वे समाज में ही अभिहित होने चाहिए...अभी तक हम बाध्य होकर निर्धन और वंचित थे, अब हमें शिक्षा मिली कि इस दशा में रहना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है !..."

बूढ़ा कुछ देर रुक गया, फिर एकाएक बोला, "कितने भोले थे हम !"

इसी समय खिड़की के नीचे कुछ कोलाहल हुआ, पकौड़ीवाली बुढ़िया का कर्कश स्वर सुन पड़ा, फिर एक लड़के के रोने की चीख़...

"बुढ़िया ने मेरा खिलौना तोड़ दिया !"

वृद्ध एकाएक चौंका। उसने खिड़की के बाहर झाँक कर पुकारा, "आ, बेटा, मैं तुझे दूसरा खिलौना दूँगा !"

लेकिन वह लड़का रोता हुआ भाग गया था।

बूढ़े की बात सुन कर पकौड़ीवाली बुढ़िया चिल्ला कर बोली, "अरे कौन है यह खिलौनोंवाला ? छोकरे को और बिगाड़ रहा है ! खिलौने देने चला है—पहले अपने मुँह के दाँत तो गिन ले !"

गली में खड़े हुए सब लड़के, जो अब तक सशंक दृष्टि से बुढ़िया की ओर देख रहे थे, उस की इस बात पर खिलखिला कर हँस पड़े।

वृद्ध ने उठ कर खिड़की बन्द कर दी और अन्धकार में एक बड़ी लम्बी साँस ली।

फिर उसने दियासलाई से एक बहुत छोटा-सा दीपक जलाया और एक

और आले में रख कर उस के सामने खड़ा हो गया। उस की ओर देखता हुआ बोला, "क्यों रे, कल भी तुझे जलानेवाला कोई होगा, या नहीं ?"

क्षण भर वृद्ध ने अपने आप ही सिर हिलाया और "तुझमें स्नेह नहीं है !" कह कर वहाँ से चला। एक कोने से एक मिट्टी का घड़ा और एक पीतल का कमंडल ले कर वह कोठरी से बाहर निकल पड़ा।

सीढ़ियों से उतर कर वह एक छोटे-से आँगन में पहुँचा। यहाँ पर नल के नीचे उसने घड़ा रख दिया और स्वयं पास के चबूतरे पर बैठ कर पानी की बहुत पतली धार की ओर देखने लगा।

घड़े में पड़ते हुए पानी की 'घहर घहर घर !' सुनते-सुनते उसे अपना तिरस्कार भूल गया और उस के मुख पर का खिंचाव कुछ ढीला हो गया।

उस के विचारों की तरंग फिर बहने लगी..."हमने अपने घोर नारकीय गत जीवन का कुछ भी प्रतीकार नहीं किया, प्रतिवाद तक नहीं ! प्रबुद्ध हो कर भी हमने कोई चेष्टा नहीं कि जिन वस्तुओं से हम सदा वंचित रहे, उन्हें अब स्वयं प्राप्त करें, या दूसरों को ही दिलायें...उलटे हम स्वयं इसी सिद्धान्त का प्रचार करने लगे कि किसी व्यक्ति का किसी वस्तु पर कोई स्वत्वाधिकार नहीं है, सभी कुछ संघ का और समाज का है...

"किन्तु हमारा सिद्धान्त मिथ्या थोड़े ही था ? हमारा मन कभी-कभी हमारी कठोर यन्त्रणा से निकल कर अदम्य और उद्दंड भाव से स्वत्व-कामना करने लगता है, एक स्वत्व विशेष का—लेकिन इस आन्तरिक प्रेरणा का प्रज्वलन विवेक बुद्धि की शीतलता को मिथ्या नहीं सिद्ध करता...शायद वह प्रेरणा बिल्कुल मरीचिका—"

बूढ़ा फिर एकाएक रुक गया, क्योंकि एक छोटी-सी , कोई सात-आठ वर्ष की बालिका, उस के घड़े के पास आ कर खड़ी हो गयी थी, और अपनी हथेली नल पर रख कर पानी इधर-उधर छिटका रही थी। बूढ़े ने उसे देख कर कहा, "छोटी, घड़ा भर लेने दे। फिर मैं ही पानी उड़ा कर दिखाऊँगा।"

वह बालिका नल से हट कर बूढ़े के पास आ कर खड़ी हो गयी। बोली, "बूढ़े बाबा, तुम्हारा नाम ही गंगाधर है ?"

"हाँ, क्यों ?"

"ऐसे ही। पिता कुछ बात कर रहे थे।"

वृद्ध ने बालिका का हाथ थामते हुए पूछा, "क्या ?"

बालिका उस के और पास चली आयी, और बोली, "बाबा, तुम हमारा घर छोड़ कर चले जाओगे ?"

वृद्ध ने प्रश्न से समझ लिया बालिका गृहस्वामी की लड़की है। उसने उस का नाम बहुत बार पुकारा जाता सुना था, किन्तु उसे देखा कभी नहीं था ! उसने कुछ देर चुप रह कर कहा, "हाँ, मुझे जाना ही पड़ेगा। कल चला जाऊँगा।"

"क्यों गंगाधर, तुम्हें हमारा घर अच्छा नहीं लगा ?"

वृद्ध ने एकाएक जवाब नहीं दिया। फिर टालते हुए बोला, "देखो, तुम्हारी शकल से तुम्हारा नाम बता सकता हूँ। तुम्हारा नाम कनकवल्ली है—क्यों ठीक है न ?"

बालिका हँस कर बोली, "उँह, पिता से सुन लिया होगा !" फिर एकाएक गम्भीर हो कर कहने लगी, "तुमने बताया नहीं, तुम्हें हमारा घर अच्छा नहीं लगता ?"

वृद्ध ने उदास हो कर कहा, "बहुत अच्छा लगता है।"

"नहीं तुम मुँह बना कर कह रहे हो। तुम्हें अच्छा नहीं लगता।" बालिका ने कहा।

वृद्ध ने बालिका का मन रखने के लिए कहा, "नहीं, नहीं। मैंने मुँह इस लिए बनाया है कि मुझे यह घर छोड़ कर जाना पड़ेगा ! मैं जाना नहीं चाहता।"

"तो फिर क्यों जाते हो ? यहीं रहो न ?"

वृद्ध ने फिर थोड़ी देर चुप रह कर कहा, "कनक, मेरे पास किराया देने को पैसे नहीं हैं, इसी लिए जाना पड़ेगा।"

बालिका थोड़ी देर गम्भीर मुद्रा से उस की ओर देखती रही, फिर बोली, "तुम यहीं बैठे रहना, मैं अभी आती हूँ।"

"अच्छा ।"

"कहीं जाना मत !" कह कर बालिका भाग गयी ।

थोड़ी देर बाद वृद्ध ने देखा, वह लौटी आ रही है । उस की दोनों बाहों पर, पीठ पर, हाथों में, सिर पर, कई तरह के बाँस और लकड़ी के खिलौने लदे हुए थे । वृद्ध उस को देख कर मुस्कराने लगा ।

वह पास आ कर बोली, "ये देखो मेरे खिलौने !"

वृद्ध ने बहुत धीमे स्वर में पूछा, "ये क्यों ले आयीं ?"

बालिका ने कुछ अप्रतिभ हो कर पूछा, "क्यों तुम्हें अच्छे नहीं लगे ?"

वृद्ध बालिका को अपनी ओर खींचते हुए बोला, "कनक, ये खिलौने मेरे ही बनाये हुए हैं !"

कनक ने बड़े विस्मय और अविश्वास के स्वर में कहा, "सच ?" फिर आप ही आप बोली, "जानते हो, मैं ये सब क्यों लायी हूँ ?"

वृद्ध कुछ नहीं बोला, चुपचाप उस की ओर देखता रहा ।

"इन्हें बेच डालो । फिर उन पैसों से घर का किराया दे देना ।" कह कर कनक ने सब खिलौने गंगाधर के पैरों में डाल दिये ।

गंगाधर की आँखों में आँसू भर आये...उसने भर्रायी हुई आवाज़ में कहा, "कनक, ये खिलौने उठा कर ले जाओ ।"

कनक रुआसी हो गयी और गंगाधर के मुख की ओर देखती रही ।

वृद्ध ने यह देख कर फिर स्नेह के स्वर में कहा, "कनक ये रख आओ, फिर मैं तुम्हें एक चीज दिखा दूँगा । बड़ी अच्छी चीज है !"

कनक ने धीरे-धीरे खिलौने उठाये और चली गयी । वृद्ध गंगाधर उठा और घड़े को हटा कर कमंडल भरने लगा । जब वह भी भर गया, तब वह दोनों को चबूतरे पर रख कर कनक की प्रतीक्षा करने लगा ।

कनक आयी, तो आते ही बोली, "क्या दिखाओगे ?"

गंगाधर बोला, "मेरे साथ आओ ।" और घड़ा तथा कमंडल उठा कर अपने कमरे की ओर चला । कनक बोली, "कमंडल मुझे दे दो, मैं ले चलती हूँ !" और वृद्ध से कमंडल ले कर उस के पीछे-पीछे सीढ़ियाँ चढ़ने लगी ।

कभी उस के हाथ से पानी छलक जाता, तो हँस पड़ती ।

गंगाधर ने कमरे में पहुँच कर घड़ा यथास्थान रख दिया । कनक ने कमंडल भी उसके पास रख दिया ।

गंगाधर बोला, 'आओ देखो ।' कह कर दिया उठा कर कमरे के एक कोने में गया । सामने चादर से ढका हुआ एक बड़ा-सा ढेर था । उसने चादर उठा ली और फिर बोला, "यह देखो, कनक !"

कनक ने देखा, उस ढेर में बाँस के और लकड़ी के पचासों खिलौने रखे हुए थे—हाथी, घोड़े, बन्दर, हाथ-पैर हिलानेवाले आदमी, गाड़ियाँ, पक्षी...वह थोड़ी देर के लिए स्तम्भित हो गयी । फिर बोली, "इतने खिलौने !"

गंगाधर हँस पड़ा । बालिका ने पूछा, "तो फिर इन्हें क्यों नहीं बेच देते ?"

वृद्ध बोला, "आजकल लोग विदेशी खिलौने ही मोल लेते हैं, इन की बिक्री ही नहीं होती । इसी लिए मैंने बनाना बन्द कर दिया है, और अब घर छोड़ रहा हूँ ।"

"ये सब तुमने बनाये हैं ?"

"सब !"

"तुमने सीखा कहाँ ? मुझे भी सिखा दो ! कैसे अच्छे खिलौने हैं ?"

गंगाधर उदास भाव से बोला, "हाँ, बुरे नहीं थे ।"

बालिका का मन किसी दिशा में चला गया था ! उसने पूछा, "गंगाधर, तुम बहुत दिन से हमारे घर में रहते थे ?"

"हाँ मुझे पच्चीस साल हो गये हैं ।"

"अरे, तब तो मैं थी ही नहीं । तब तुम्हें घर अच्छा लगता था ?"

गंगाधर उस के इस भोले अहंकार पर हँस पड़ा ।

"तुम तब से ही खिलौने बनाते थे ?"

"नहीं । पहले मैं लड़कों को पढ़ाया करता था । फिर—"

"लड़कों को पढ़ाने से तो यह काम अच्छा है न ? मैं तो यही करूँ ।"

गंगाधर ने एक लम्बी साँस ली और चुप हो गया ।

"गंगाधर, तुम तो रोने लगे ?"

"नहीं, मैं एक बात याद कर रहा था। सुनो, तुम्हें अपनी कहानी सुनाऊँ? बहुत अजीब है, लेकिन तुम्हें सारी समझ नहीं आयेगी।"

"क्यों नहीं। माँ जब कहानी कहती है, तो मैं सब समझ लेती हूँ!"

बिना किसी प्रेरणा के दोनों फिर खिड़की के चौखटे पर बैठ गये और गंगाधर खिड़की खोलते हुए बोला, "तो सुनो।"

गंगाधर धीरे-धीरे, बिना बालिका की ओर देखे, अपनी कहानी कहने लगा। पच्चीस वर्षों में उसे तमिल भाषा का बहुत ज्ञान हो गया था और लड़की से उसने सब बात-चीत तमिल में ही की थी। अब वह अपनी कहानी भी तमिल में ही कह रहा था। किन्तु बीच में कभी-कभी जब आवेश में आ जाता, तब तमिल छोड़ कर एकाएक हिन्दी बोलने लगता था—और कितनी परिष्कृत, परिमार्जित हिन्दी! फिर एकाएक चौंक कर पूछता, "कनक, तुम क्या समझी?" और उसके एकाग्र भाव को देख कर हँस पड़ता था। इस के बाद कथाक्रम पुनः चल पड़ता...

"मैं जब बहुत बच्चा था, तब कानपुर में रहता था। वहाँ एक कारखाने में मेरे पिता मजदूरी करते थे; और मैं जब आठ साल का हुआ, तब मुझे भी उसी कारखाने में लगा दिया गया। मैं सुबह से शाम तक—दस-दस घंटे लगातार सूत के गोले बनाया करता था....घुमाते-घुमाते हाथ थक जाते थे, पेशियाँ जड़ हो जाती थीं, पर फिर भी हाथ मशीन की तरह चलते जाते थे...शाम को जब छुट्टी मिलती, तब मैं इतना थका हुआ होता था कि उठ कर घर भी नहीं जा सकता था। पिता आते और उठा कर ले जाते थे। वे खुद इतने थके होते थे कि मैं अपने को उन की गोद में देख कर लज्जित हो जाता था...पर करता क्या?"

गंगाधर ने कनक की ओर देखा। वह सहज सहानुभूति से बोली, "तो क्या दिन भर में खेलना नहीं मिलता था? खिलौने—"

गंगाधर एक विषाद-पूर्ण मुस्कराहट के साथ कहने लगा, "वह भी कहता हूँ, सुनती जाओ।"

"हमें प्रातःकाल छः बजे ही काम पर चले जाना पड़ता था, इस लिए

सबेरे तो कुछ खेलना मिलता ही नहीं था। शाम को छः बजे के करीब म घर पहुँचता, तो थोड़ी देर तो फटी हुई चटाई पर लेट रहता था। भूख लगती थी तो इतना भी नहीं होता था कि रो कर रोटी माँग लूँ—चुपचाप पड़ा हुआ गली हुई छत की ओर देखा करता था कि बरसात में पानी से बचने के लिए कहाँ सोऊँगा...लेकिन जब सात बजने को होते थे, तब नीचे गली में बहुत से लड़कों का क्रीड़ारव सुन कर मुझ से नहीं रहा जाता था, अपने थके-माँदे शरीर को किसी प्रकार मैं गली में ले जाता और उन लड़कों के खेलों में अपने को भुला देने का प्रयत्न करता था...

"हमारे पास कोई खिलौने नहीं थे, कोई भी चीज़ ऐसी नहीं थी जिसे हम अपना कह सकते। जब हमारा भाग्य बहुत ही अच्छा होता था, और आधे दिन की छुट्टी मिल जाती थी, तब हम सड़कों के किनारे की घास में लोट कर, नदी के किनारे की रेत में घर बना कर और आपस में लड़ कर ही अपना मनोरंजन कर लेते थे। और जब ऐसा सुयोग नहीं मिलता था, तब... सड़कों की धूल में लोट कर, कूड़े के ढेरों में से सिगरेट की डिबिया निकाल कर, किताबों की दूकानों के बाहर से फटे-पुराने अखबारों के चित्रों का कलन कर के ही हम अपनी आत्मा की भूख मिटाया करते थे!"

वृद्ध ने एक बार कनक की ओर ध्यान से देखा और फिर कहने लगा, "और जो चीज़ सब को मिल जाती है, अपने आत्मीयों का प्रेम—मुझे वह भी नहीं मिला। पिता को काम से ही छुट्टी नहीं मिलती थी, और माता मुझे बोध होने के पहले ही मर गयी थी...कनक, तुम्हारे माता है न?"

कनक ने कहा, "माँ मुझे बहुत प्यार करती है!"

गंगाधर ने यह सुना या नहीं, इस में सन्देह है। उस का ध्यान बहुत दूर कहीं चला गया था। वह तमिल को छोड़ कर हिन्दी में ही गुनगुनाने लग गया था।

"शायद अपनी बाल्यकालीन स्थिति के कारण, अपनी शिक्षा के दोष—या गुण?—के कारण, मेरी दशा बाद में ऐसी हो गयी...संघ-स्वत्व का प्रचार करते-करते कभी मानो पैरों के तले से धरती खिसक जाती है, अपने

सब तर्क भूल जाते हैं, अपना आत्म-विश्वासजनित सन्तोष नष्ट हो जाता है, संसार सूना हो जाता है—केवल एक विराट् आशंका से, एक भैरव प्रशान्ति से, एक उद्भ्रान्त कामना से आकाश व्याप्त हो उठता है—जिन मनश्चेष्टाओं को हम अब तक छिपाते आ रहे हैं, वे एकाएक प्रलयंकर वेग से सामने आती हैं, एक ही आकांक्षा—स्वत्वेच्छा—कि इस विशाल विश्व में कम से कम एक वस्तु तो ऐसी हो जिस पर हमारा एकान्त स्वत्व हो, जिसे हम अपनी कह सकें...हमारे निरीह, निःस्नेह, नीरव हृदयों में कभी-कभी जो उथल-पुथल मच जाती है, कनक, तुम क्या समझीं ?"

कनक हँस कर बोली, "तुम बोल रहे थे, तो तुम्हारे मुँह पर दिये का प्रकाश बहुत काँपता मालूम होता था, मैं वही देख रही थी। अब कहानी नहीं सुनाओगे ?"

"मैं क्या कह रहा था ? हाँ, कि हमारे पास खिलौने नहीं थे। जब मैं तेरह साल का हुआ, तब मेरे पिता मर गये। उस के बाद—"

कनक ने गंगाधर के घुटने पर हाथ रख कर कहा, "गंगाधर, तुम तो बहुत रोये होगे ?"

"नहीं, रोने को समय नहीं मिला। मेरे पास पैसे नहीं थे, पाँच आने रोज़ी मिलती थी। जब पिता मर गये तब मैंने वह काम छोड़ कर आदमी का काम शुरू किया। काम में हाथ-पैर टूटने लगते थे, पर पैसे ज्यादह मिलते थे—दस आने रोज़। मेरी एक बहिन भी थी, मुझ से साल भर छोटी। उसे भी अब कारखाने में काम करना पड़ा—उसे चार आने रोज़ मिलते थे। पर वह उसी साल हैज़े से मर गयी, मैं अकेला रह गया।"

कनक ने क्षण भर के लिए अपना चिबुक गंगाधर के घुटने पर रख दिया। वृद्ध फिर कहने लगा :

"मैंने फिर वह घर भी छोड़ दिया जिस में रहता था। उस के बाद कारखाने के बाहर ही कहीं छप्पर में सो रहता था, और दिन भर में पेट भरने के लिए दो आने भर खर्च करता था। बाकी पैसे बचा-बचा कर मैं एक शिल्प-शाला में भरती हुआ, और दो साल तक काम सीखता रहा। फिर मैंने मजदूरी छोड़

दी और उसी स्कूल में नौकर हुआ। यहीं मैंने पढ़ाई की और बढ़ती भी पायी... इसी तरह मैं कालेज में भरती हुआ और मैंने बी०ए० भी पास कर लिया।"

"बी० ए० क्या, चौदहवीं जमात को ही कहते है न ?"

गंगाधर हँस कर बोला, "हाँ।"

"मैं तो अभी दूसरी में ही पढ़ती हूँ।"

गंगाधर फिर हँसा और बोला, "इस समय तक मेरे विचारों में बहुत बदली हो गयी थी। मैं अब अमीरों से डरता नहीं था, उन से घृणा करता था। मुझे विश्वास हो गया था कि अपने देश की सरकार से और अमीरों से लड़ाई किये बिना मुझ जैसे मजदूरों का कोई भला नहीं होगा। और मैं यह भी समझता था कि गरीबी का एक ही इलाज है कि सब पूँजी संघ को दे दी जाय---संघ जानती हो ?"

"नहीं।"

"मतलब यह था कि पूँजी पर, रुपये-पैसे पर, सब का बराबर-बराबर हक़ हो; एक आदमी दूसरे को भूखा मार कर अमीर न हो जाय। मैंने यह लड़ाई छेड़ने के लिए और भी आदमी इकट्ठे कर लिये, वे भी मेरी ही तरह विश्वास रखते थे और मेरी ही तरह ग़रीबी से उठे हुए थे।"

गंगाधर फिर हिन्दी में कहने लगा, "हमारी दीक्षा यही थी कि 'प्रत्येक को उन की पात्रता के अनुसार मिले।' हमारा प्रयत्न भी यही था कि हरेक को यथोचित दें और हमें इस बात का अभिमान था कि हम अपने अधिकार से अधिक कुछ नहीं माँगते। अब अपनी इस कारातुल्य कोठरी की छोटी परिधि में, एक नीरस और निरानन्द शान्ति में मुझे यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि हम में एक बड़ी भारी त्रुटि थी—जीवन में एक स्थान पर आ कर हम इस सिद्धान्त को भूल जाते थे...इस स्थान पर हमारे लिए यह असह्य होता था कि हम किसी के भी द्वितीय हों—चाहे वह संसार का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही क्यों न हो। वहाँ पर हम सदा प्रथम होना चाहते हैं—या फिर होते ही नहीं—हमारा अस्तित्व ही मिट जाता है...." फिर एकाएक, तमिल में, "कनक, अगर तुम्हारे माता-पिता तुम्हें प्यार न करें, कोई भी न करे, तो तुम क्या करो ?"

कनक ने प्रश्न पर विस्मित हो कर कहा, "क्यों न करें, मैंने कोई बुरा काम किया है ?"

गंगाधर एक फीकी हँसी हँस कर बोला, "ठीक है । तुम्हारी कल्पना के बाहर की बात है ।" फिर वह अपने अभ्यस्त साधारण स्वर में कहने लगा, "दो साल ऐसे ही बीत गये । फिर एक दिन एकाएक मेरे सब साथी पकड़े गये—पुलिस को मालूम हो चुका था कि हम क्या करना चाहते हैं; और हम में से किसी ने पता दिया था कि कौन-कौन आदमी हैं । अकेला मैं ही बचा रहा—और मैं भी एक स्थान पर नहीं रह सका, कभी बंगाल, कभी महाराष्ट्र, मैं सब जगह भागा फिरता था कि पुलिस मुझे भी न पकड़ ले । लेकिन कहीं कोई सहायक नहीं मिलता था, हर जगह झूठ बोल कर, धोखा दे कर ही मैं अपने आप को रक्षित रख सकता था । बंगाल और महाराष्ट्र दोनों में ही मेरे सिद्धान्त के आदमी थे, पर वे मुझे जानते नहीं थे और बाहर के लोगों से डरते-बचते थे । अगर कभी कोई आश्रय भी दे देता था, तो वैसे जैसे किसी बाजारू कुत्ते को एक टुकड़ा डाल देता है...

"मैं बहुत दिनों से इसी बात का भूखा था जो मुझे नहीं मिलती थी । मैं संसार से अलग हो कर रहना नहीं चाहता था—क्यों चाहता ? अपना स्थान, जो मैंने इतने परिश्रम से प्राप्त किया था, क्यों छोड़ देता ? मैं उन में से नहीं था जो वन्य फूल की तरह अज्ञात, अदृष्ट, नामहीन रह कर ही जीवन व्यतीत करने में सन्तुष्ट होते हैं—मैं और कुछ चाहता था...मैंने बहुत कुछ सहा था, स्नेह की कामना करते हुए भी उस के अभाव में प्रसन्न था, घृणा का सामना किया था, पर यह उपेक्षा मैं नहीं सह सका ! मैं संसार का प्रतिद्वन्द्वी हो कर रह लेता, परित्यक्त होकर नहीं रहा जाता था ! कनक, तुम सुन रही हो न ?"

"हाँ, सुनती हूँ । पर जल्दी-जल्दी कहो, नहीं तो पिता मारेंगे ।"

"अच्छा ! सब ओर से धक्के खाते-खाते तंग आ गया । पर हताश नहीं हुआ । मेरे लिए तिरस्कार नयी वस्तु नहीं थी—मेरी स्वाभाविक स्थिति ही यही थी कि मैं समाज की उपेक्षा का, घृणा का, तिरस्कार का पात्र रहूँ ! अगर कोई मुझ से स्नेह करता, तो वही अपवाद होता—अस्वाभाविक और अस्थायी

और भ्रान्तिमय !

"मैंने फिर यही निश्चय किया कि किसी से कुछ आशा नहीं करूँगा, अपने कार्य्य के अतिरिक्त किसी से कोई सम्पर्क न रखूंगा। इसी लिए मैं पागलों की तरह अपने-आप को अपने काम में खो देने का प्रयत्न करने लगा। मैं रोज़ यह प्रार्थना किया करता कि मुझ में इतनी शक्ति, इतनी दृढ़ता हो कि मैं समाज की, मैत्री की, स्नेह की कमी और आवश्यकता का कभी अनुभव न करूँ, प्रत्युत उस की उपेक्षा करता हुआ, उस की ईर्ष्या का पात्र हो कर चला जाऊँ !

"पर यह बात भी नहीं हो सकी। मेरा काम भी तो ऐसा था कि नित्य ही लोगों से मिलना पड़ता, उन से आश्रय माँगना पड़ता, भिक्षा माँगनी पड़ती...मैं स्नेह नहीं माँगता था, तो भी यह अपने-आप से नहीं छिप सकता था कि उस को पाने का अधिकारी हो कर भी मैं वंचित हूँ।

"बहुत दिनों तक मैं भरसक प्रयत्न करता रहा, देखते हुए भी अन्धा बना रहा...फिर एक दिन एकाएक मेरी सहनशीलता टूट गयी। किस कारण, यह नहीं कहूँगा। मैं एकाएक उठा, और जिस कोठरी में सोया था, उस का किवाड़ खोल कर बाहर निकल गया। बाहर वर्षा हो रही थी, उस की ठंडी बूँदों से मेरा दिमाग़ कुछ स्थिर हुआ तो मैं सोचने लगा, कहाँ जाऊँ ? संसार में ऐसा कोई नहीं था, जिस के पास जा कर मैं किसी अधिकार से कह सकता, "मुझे स्थान दो !"

कनक अपनी बड़ी-बड़ी आँखें वृद्ध पर गड़ा कर बोली, "क्यों, तुम्हारे कोई सखा नहीं थे ?"

"मेरे सखा ? मेरे मित्र ? कनक, गरीब का दुनिया में कोई सखा नहीं होता..."

गंगाधर क्षण भर के लिए चुप हो गया, फिर कहने लगा, "पहले तो मेरे जी में आया, इन सबों को चिढ़ाऊँ, गाली दूँ, मारूँ, इन सब का गला घोंट डालूँ, ताकि अगर वे मेरे प्रति स्नेह नहीं कर सकते तो मुझसे शत्रुता ही करें, इस प्रकार स्तिमित हो कर न रह जायें ! फिर उसी वक्त मैंने अनुभव किया,

वह केवल जी की जलन है, इस के आगे झुकना नीचता होगी। इसलिए मैंने अपने-आप को उस पुराने संसार से अलग कर देने का निश्चय कर लिया। सुन रही हो न, कनक ?"

"हाँ, हाँ, फिर क्या हुआ ?"

"फिर मैं यहाँ चला आया। इस बात को आज पचीस साल हो गये हैं ! मेरा असली नाम अनन्त था, पर यहाँ आ कर मैंने अपना नाम गंगाधर रखा, और खिलौने बना कर बेचने लगा। पहले मेरे खिलौने बहुत चलते थे, पर अब धीरे-धीरे उन की क़द्र घट गयी है। अब तो जिधर देखो विलायती मोटर गाड़ियों, हवाई जहाज़ों, और गुड़ियों की धूम है। इसी लिए मेरा यह हाल हो गया है !"

"पर मेरे पास तो ऐसे ही खिलौने हैं !"

गंगाधर ने एक लम्बी साँस ले कर कहा, "हर एक लड़की कनकवल्ली तो नही होती !"

कनक इस सीधी-सादी प्रशंसा से प्रसन्न हो गयी। बोली, "अगर मुझे पहले मालूम होता तो मैं और खिलौने भी ले लेती।"

वृद्ध हँस पड़ा। फिर कहने लगा, "अब कहानी समाप्त करता हूँ, तुम घर चली जाना। अब मेरी यह दशा हो गयी है कि मैं इस घर का किराया भी नहीं दे सकता। इसी लिए अब छोड़ कर जा रहा हूँ।"

"कहाँ जाओगे ?"

"पता नहीं।"

"क्या करोगे ?"

"पता नहीं।"

"फिर वापस आओगे ?"

"पता नहीं।"

बालिका हँसने लगी। बोली, "कुछ पता भी है ?"

गंगाधर फिर हिन्दी में बातें करने लगा। "चला तो जाऊँगा, पर वह भूख कहाँ मिटेगी ? अब मैं बूढ़ा हो गया, अब बदलना मेरे लिए सम्भव नहीं

है। और फिर मेरी भूख तो नयी नहीं है, लाखों वर्षों की संस्कृति और मनश्चालन से उत्पन्न एक प्रवृत्ति है। पृथ्वी पर मनुष्य का आविर्भाव हुए करोड़ों वर्ष हो गये, और इन करोड़ों वर्षों से बिना किसी बाधा के हमारे हृदयों में व्यक्तिगत स्वत्व का भाव जाग्रत् रखा गया है। और उस से भी पूर्व जब हमारे पुरखों ने अभी मनुष्यत्व नहीं प्राप्त किया था, तब भी यह स्वत्व-भाव पशुओं में था....इन असंख्य वर्षों से जो भाव हमारे मन में घर किये हैं, जिस की रूढ़ि असंख्य वर्षों से हमारे मन को बाँधे हुए है, उसे विवेक के एक क्षण में, एक दिन में, एक वर्ष में—एक समूचे जीवन में भी समूल उखाड़ फेंकना हमारे लिए सम्भव नहीं है। विवेक द्वारा स्वत्व-भाव को दबा कर भी हम इस अस्फुट आकांक्षा के विद्रोह को नहीं दबा सकते..."

बालिका इतनी देर से चुप बैठी थी। अब बोली, "गंगाधर!"

"क्या है, कनक? मेरी बात नहीं समझी? मैं बीच-बीच में अपनी भाषा बोलने लग जाता हूँ।"

"एक बात कहूँ—मानोगे?"

"कहो?"

"हमारा घर छोड़ कर मत जाओ।"

"क्यों? और फिर रहूँ कैसे?"

"मैं पिताजी से कहूँगी, वे किराया कम कर लें, या न ही लें। तुम खिलौने बनाया करना और बेचा करना। मैं भी मदद करूँगी। बोलो, रहोगे न?"

गंगाधर उस के इस आग्रह का सहसा कोई उत्तर न दे सका। उसने मुँह खिड़की से बाहर कर लिया, ताकि कनक उस की आँखों के आँसू न देख सके।

बहुत देर तक दोनों ऐसे ही चुप बैठे रहे।

फिर गंगाधर बोला, "कनक, तुमने आज से पहले मुझे क्यों नहीं कहा? तब शायद..."

"आज से पहले मुझे कभी इधर आना ही नहीं मिला। आज जब पिता जी ने कहा कि तुम चले जाओगे, तब मैं तुम्हें देखने चली आयी थी।"

"तुम मुझे क्यों रहने को कहती हो?"

"मुझे तुम्हारे खिलौने, और तुम्हारी कहानियाँ, और तुम बहुत अच्छे लगते हो।"

वृद्ध एक लम्बी साँस ले कर चुप रहा। थोड़ी देर बाद कनक ने फिर पूछा, "गंगाधर, रहोगे न ?" कह कर वह अपना कपोल धीरे-धीरे वृद्ध के घुटने पर मलने लगी।

गंगाधर का हृदय द्रवित हो गया। वह बोला, "कनक, पता नहीं अब रह सकूँगा कि नहीं...पर तुम इतना कहती हो, तो यत्न करूँगा..."

"नहीं, ऐसे नहीं। वायदा करो, नहीं जाओगे।"

वृद्ध चुप रहा। कनक फिर बोली, "मेरी बात नहीं मानोगे ? कह दो, नहीं जाओगे !"

"अच्छा, जैसे तुम कहो।"

"नहीं, कहो, वायदा करता हूँ, नहीं जाऊँगा।"

"अच्छा, वायदा करता हूँ, नहीं जाऊँगा। लो अब तुम दौड़ कर घर चली जाओ, बहुत देर हो गयी है।'

"अच्छा, कल फिर आऊँगी। तुम जाना मत।" कह कर बालिका भाग गयी।

गंगाधर खिड़की के चौखट पर सिर रख कर बैठ गया, उस का दुबला शरीर अन्तर्दाह से हिलने लगा। इसी समय उसने दूर पर एक स्त्री का क्रुद्ध स्वर सुना, "क्यों री, चुड़ैल, कहाँ गयी थी ?" और उस के बाद ही कनक के रोने की आवाज...

वह एकाएक उठ कर दीपक के पास आ कर खड़ा हो गया। बोला, "मैं किस बिडम्बना में अपने-आप को भुला रहा हूँ। पचास वर्ष तक जो नहीं मिल सका, उस के मोह में आज भी पागल हो रहा हूँ ! और आज भी, वह कहाँ मिला है ? एक बच्चे का अस्थायी चापल्य...अगर कल वह चली गयी, या विमुख हो गयी, या भूल ही गयी, तो ? गंगाधर, तुम पागल हो गये हो। तुम्हारे हृदय में, तुम्हारी नस-नस में, जो जीवन की तीक्ष्णता नाच रही है, उस को तुम एक सामान्य और क्षण भंगुर आनन्द में कैसे भुला दोगे ? तुम्हें

चाहिए एक अशान्तिमय उपद्रव---या कुछ नहीं! हटाओ इस मोह-जाल को!"

गंगाधर ने एक बहुत लम्बी साँस ले कर चारों ओर देखा। फिर एक कागज़ के टुकड़े पर पेंसिल से तमिल अक्षरों में लिखा, "मेरे सब खिलौने कनकवल्ली के लिए हैं।" और उसे खिलौनों के ढेर पर रख दिया। फिर किवाड़ से बाहर एक बार सीढ़ियों की ओर झाँक कर देखा, फिर वापस आ कर दिये के सामने खड़ा हो गया।

गंगाधर एक क्षण दिये की ओर देखता रहा, फिर फूँक से उसे भी बुझाकर टूटे हुए स्वर में बोला, "अब आगे अँधेरा है, अनन्त!"

दिसम्बर, १९३३

विपथगा

वह मानवी थी या दानवी, यह मैं इतने दिन सोच कर भी नहीं समझ पाया हूँ। कभी-कभी तो यह भी विश्वास नहीं होता कि उस दिन की घटना वास्तविक ही थी, स्वप्न नहीं। किन्तु फिर जब अपने सामने की दीवार पर टँगी हुई वह टूटी तलवार देखता हूँ, तो हठात् उस की सत्यता मान लेनी पड़ती है। फिर भी अभी तक यह निर्णय नहीं कर पाया कि वह मानवी थी या नहीं...

उस के शरीर में लावण्य की दमक थी, मुँह पर सौन्दर्य की आभा थी, ओठों पर एक दबी हुई, विचारशील मुस्कान थी। किन्तु उस की आँखें! उन में अनुराग, विराग, क्रोध, विनय, प्रसन्नता, करुणा, व्यथा, कुछ भी नहीं था। थी केवल एक भीषण, तुषारमय, अथाह ज्वाला!

मनुष्य की आँखों में ऐसी मृतवत् जड़ता के साथ ही ऐसी जलन हो सकती है, यह बात आज भी मेरे गुमान में नहीं आती। किन्तु आज एक वर्ष बीत जाने पर भी, मैं जब कभी उस का ध्यान करता हूँ, उस की वे आँखें मेरे सामने आ जाती हैं। उस की आकृति, उस का वर्ण, उस की बोली, मुझे कुछ भी याद नहीं आता, केवल वे दो प्रदीप्त बिम्ब दीख पड़ते हैं...रात्रि के अन्धकार में जिधर आँख फेरता हूँ उधर ही, स्फटिक मणि की तरह, नीले आकाश में शुक्र तारे की तरह, हरित ज्योतिमय उस के वे विस्फारित नेत्र निर्निमेष हो कर मुझ पर अपनी दृष्टि गड़ाये रहते हैं...

मैं भावुक प्रकृति का आदमी नहीं हूँ। पुराने फैशन का एक दम साधारण व्यक्ति हूँ। मेरी जीविका का आधार इसी पेरिस शहर के एक स्कूल में इतिहास के अध्यापक का पद है। मैं सिनेमा-थियेटर देखने का शौकीन नहीं हूँ, न मेरा कविता में ही मन लगता है। मनोरंजन के लिए मैं कभी-कभी देश-विदेश की क्रान्तियों के इतिहास पढ़ लिया करता हूँ। एक-आध बार मैंने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये हैं। इस से अधिक कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि यह विदेश है। जब पढ़ने से मन उकता जाता है, तब कभी-कभी पुराने अस्त्र-शस्त्र के

संग्रह में लग जाता हूँ। बड़ी मेहनत से मैंने इन का एक संग्रह किया है। जिस कटार से सम्राट् पीटर ने अपनी प्रेमिकाओं की हत्या की थी, उस की मूँठ मेरे संग्रह में है; जिस प्याले में कैथराइन ने अपने पुत्र को विष दिया था, उस का एक खंड; जिस गोली से एक अज्ञात स्त्री ने आर्क-एंजेल के गवर्नर को मारा था, उस का खाली कारतूस; जिस घोड़े पर सवार हो कर नेपोलियन मॉस्को से भागा था, उस की एक नाल, और नेपोलियन की जैकट का एक बटन भी मेरे संग्रह में हैं। ऐसा संग्रह शायद पेरिस में दूसरा नहीं है—शायद मॉस्को में भी नहीं था...

पर जो बात मैं कहना चाहता था, उस से भटक गया। हाँ, मैं भावुक प्रकृति का नहीं हूँ। मेरी रुचि इसी संग्रह में, या कभी-कभी क्रान्ति-सम्बन्धी साहित्य तक, परिमित है, और इधर-उधर की बातें मैं नहीं जानता। फिर भी उस दिन की घटना मेरे शान्तिमय जीवन में उसी तरह उथल-पुथल मचा गयी, जिस तरह एक उद्यान में झंझावात। उस दिन से न जाने क्यों एक अज्ञात, अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे हृदय में घर कर लिया है। जब भी मेरी दृष्टि उस टूटी हुई तलवार पर पड़ती है, एक गम्भीर किन्तु भावातिरेक से कम्पायमान ध्वनि मेरे कानों में गूँज उठती है:

"दीप बुझता है तो धुआँ उठता है। किन्तु जब हमारे विस्तृत देश के भूखे, पीड़ित, अनाश्रित कृषक-कुटुम्ब सड़कों पर भटक-भटक कर हेमावृत धरती पर बैठ कर अपने भाग्य को कोसने लगते हैं, जब उन के हृदय में सुरक्षित आशा की अन्तिम दीप्ति बुझ जाती है, तब एक आह तक नहीं उठती। न जाने कब तक वह बुझी हुई राख पड़ी रहती है—पड़ी रहेगी!—किन्तु किसी दिन, सुदूर भविष्य में, किसी घोर झंझा से, उस में फिर चिनगारी निकलेगी! उस की ज्वाला—घोरतम, अनवरुद्ध, प्रदीप्त ज्वाला!—किधर फैलेगी, किस को भस्म करेगी, किन नगरों और प्रान्तों का मान-मर्दन करेगी—कौन जाने?"

मुझे रोमांच हो आता है, मैं मन्त्रमुग्ध की तरह निश्चेष्ट हो कर उस दिन की घटना पर विचार करने लग जाता हूँ...

रात्रि के आठ बज रहे थे। मैं मॉस्को में अपने कमरे में बैठा लैम्प के

प्रकाश में धीरे-धीरे कुछ लिख रहा था। पास में एक छोटी मेज़ पर भोजन के जूठे बर्तन पड़े थे। इधर-उधर दीवार पर टँगी या अंगीठी पर रखी हुई मेरे संग्रह की वस्तुएँ थीं।

बाहर वर्षा हो रही थी। छत पर से जो आवाज आ रही थी, उस से मैंने अनुमान किया कि ओले भी पड़ रहे हैं, किन्तु उस जाड़े में उठ कर देखने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी। कभी-कभी लैम्प के फीके प्रकाश पर खीझने के अतिरिक्त मैं बिल्कुल एकाग्र हो कर दूसरे दिन पढ़ने के लिए 'सफल क्रान्ति' पर एक छोटा-सा निबन्ध लिख रहा था।

'सफल क्रान्ति क्या है? असंख्य विफल जीवनियों का, असंख्य निष्फल प्रयत्नों का, असंख्य विस्मृत आहुतियों का, अशान्तिपूर्ण किन्तु शान्तिजनक निष्कर्ष!'

(उन दिनों मैं मॉस्को के एक स्कूल में अध्यापक था। वहीं इतिहास पढ़ाने में और कभी-कभी क्रान्तिविषयक लेख लिखने में तथा पढ़ने में मेरा समय बीत जाता था। क्रान्ति का अर्थ मैं समझता था या नहीं, यह नहीं कह सकता। आज मैं क्रान्ति के विषय में अपनी अनभिज्ञता को ही कुछ-कुछ जान पाया हूँ!)

एकाएक किसी ने द्वार खटखटाया। मैंने बैठे ही बैठे उत्तर दिया, "आ जाओ!" और लिखने में लगा रहा। द्वार खुला और बन्द हो गया। फिर उसी अविरल जलधारा की आवाज़ आने लगी—कमरे में निस्तब्धता छा गयी। मैंने कुछ विस्मित हो कर आँख उठायी, और उठाये ही रह गया।

बहुत मोटा-सा ओवरकोट पहने, सिर पर बड़े-बड़े बालों वाली टोपी रखे, गले में लाल रुमाल बाँधे, दरवाजे के पास खड़ी एक स्त्री एकटक मेरी ओर देख रही थी। उस के कपड़े भीगे हुए थे, टोपी में कहीं-कहीं एक-आध ओला फँस गया था। पैरों में उसने घुटने तक पहुँचने वाले बड़े-बड़े भद्दे रूसी बूट पहन रखे थे, जो कीचड़ में सने हुए थे। ऊपर टोपी और नीचे रुमाल के कारण उस के मुँह का बहुत थोड़ा भाग दीख पड़ता था। इस प्रकार आवृत होने पर भी उस के शरीर में एक लचक, और साथ ही एक खिचाव का आभास स्पष्ट

होता था, मानो कपड़ों से ढँक कर एक तने हुए धनुष की प्रत्यंचा सामने रख दी गयी हो। आँखें नहीं दीखती थीं, किन्तु उन ओठों की पतली रेखा देखने से भावना होती थी कि उस के पीछे विद्युत् की चपलता के साथ ही वज्र की कठोरता दबी हुई है...

मैं क्षण भर उस की ओर देखता रहा, किन्तु वह कुछ बोली नहीं। मैंने ही मौन भंग किया, "कहिए, क्या आज्ञा है ?" कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने फिर पूछा, "आप का नाम जान सकता हूँ ?"

उसने धीरे-धीरे कहा, मानो प्रत्येक शब्द तौल-तौल कर रखा हो, "मैंने सुना था कि क्रान्तिकारियों से आप को सहानुभूति है, और आपने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये हैं। इसी सहानुभूति की आशा से आप के पास आयी हूँ।"

मैं काँप गया। मेरी इस सहानुभूति की चर्चा बाहर होती है, और क्रान्तिकारियों तक को इस का ज्ञान है, फिर मुझ में और क्रान्तिकारियों में भेद क्या है ? कहीं यह मॉस्को के राजनैतिक विभाग की जासूस तो नहीं है ? मेरी नौकरी...शायद साइबेरिया की खानों में आयु भर...पर अगर यह जासूस होती, तो ऐसी दशा में क्यों आती ? ऐसे बात क्यों करती ? इस से तो साफ सन्देह होने लगता है...जासूस होती तो विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करती...पर क्या जाने, विश्वास उत्पन्न करने का शायद इस का यही ढंग हो, सँभल कर बात करनी होगी।

मैंने उपेक्षा से कहा, "आप साफ-साफ कहिए, बात क्या है ? मैं आप का अभिप्राय नहीं समझा।"

वह बोली, "मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। मुझे अभी कुछ धन की आवश्यकता है। आप दे सकेंगे ?"

"किस लिए ?"

वह कुछ देर के लिए असमंजस में पड़ गयी, मानो सोच रही हो कि उत्तर देना चाहिए या नहीं। फिर उसने धीरे-धीरे ओवरकोट के बटन खोले और भीतर से एक तलवार—रक्तरंजित तलवार !—निकाली। इतनी देर में उसने

आँख पल भर भी मुझ पर से नहीं हटायी। मुझे मालूम हो रहा था, मानो वह मेरे अन्तरतम विचारों को भाँप रही हो। मैं भी मुग्ध हो कर देखता रहा...

वह बोली, "यह देखो! जानते हो, यह किस का रक्त है? कर्नल गोरोव्स्की का! और उस की लोथ उस के घर के बाग में पड़ी हुई है!"

मैं भौंचक हो कर बोला, "हैं? कब?"

"अभी एक घंटा भी नहीं हुआ। उसी की तलवार, इन हाथों ने उसी के हृदय में भोंक दी! तुम पूछोगे, क्यों? शायद तुम्हें नहीं मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है!"

"तुम यहाँ क्यों आयीं?"

"मुझे धन की ज़रूरत है। मॉस्को से भागने के लिए।"

"मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। तुम हत्यारिणी हो!"

वह एकाएक सहम-सी गयी, मानो उसे इस उत्तर की आशा न हो। फिर धीरे-धीरे एक फीकी, विषादमय हँसी हँस कर बोली, "बस, यहीं तक थी तुम्हारी सहानुभूति! इसी क्रान्तिवाद के लिए तुम व्याख्यान देते हो, यही तुम्हारे इतिहासों का निष्कर्ष है!"

"मैं क्रान्तिवादी हूँ, पर हत्यारा नहीं हूँ। इस प्रकार की हत्याओं से देश को लाभ नहीं, हानि होगी। सरकार ज्यादा दबाव डालेगी, मार्शल लॉ जारी होगा, फाँसियाँ होंगी। हमारा क्या लाभ होगा?"

"तुम क्रान्ति को क्या समझते हो, गुड़ियों का खेल?" यह कहती हुई वह मेरी मेज़ के पास आ कर खड़ी हो गयी। मेज़ पर पड़े हुए कागजों को देख कर बोली, "यह क्या, 'सफल क्रान्ति! असंख्य विफल जीवनियों का... विस्मृत आहुतियों का निष्कर्ष!"

वह ठठा कर हँसी। "सफल क्रान्ति! जानते हो, क्रान्ति के लिए कैसी आहुतियाँ देनी पड़ती हैं?'

मैं कुछ उत्तर न दे सका। मैं उसे वह लेख पढ़ते हुए देख कर झेंप रहा था।

वह फिर बोली, "तुम भी अपने-आप को क्रान्तिवादी कहते हो, हम भी। किन्तु हमारे आदर्शों में कितना भेद है! तुम चाहते हो, स्वातन्त्र्य के नाम

पर विश्व जीत कर उस पर शासन करना, और हम !—हम इसी की चेष्टा में लगे हैं कि अपने हृदय इतने विशाल बना सकें कि विश्व उन में समा जाय !"

मैंने किसी षड्यन्त्र में भाग नहीं लिया है—क्रान्तिवाद पर लेक्चर देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है, फिर भी मैं अपने सिद्धान्तों पर आक्षेप नहीं सह सका। मैंने तन कर कहा, "तुम झूठ कहती हो। मैं सच्चा साम्यवादी हूँ। मैं चाहता हूँ कि संसार में साम्य हो, शासक और शासित का भेद मिट जाय। लेकिन इस प्रकार हत्या करने से यह कभी सिद्ध नहीं होगा। जिसे तुम क्रान्ति कहती हो, उस के लिए अगर यह करना पड़ता हो, तो मैं उस क्रान्ति का विरोध करूँगा, उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करूँगा। इस के लिए अगर प्राण भी—"

"क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे, तुम ? सूर्य का उदय होता है, उस को रोकने की चेष्टा की है ? समुद्र में प्रलय लहरी उठती है, उसे रोका है ? ज्वालामुखी में विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है, उसे रोका है ? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्तिमान, प्रलय से भी अधिक भयंकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प से भी अधिक विदारक है...उसे क्या रोकोगे !"

"शायद न रोक सकूँ। लेकिन मेरा जो कर्त्तव्य है, वह तो पूरा करूँगा।"

"क्या कर्त्तव्य ? लेक्चर झाड़ना ?"

"देश में अपने विचारों का निदर्शन, अहिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार।"

"अहिंसात्मक क्रान्ति ! जो भूखे, नंगे, प्रपीड़ित हैं, उन को जाकर कहोगे, चुपचाप बिना आह भरे मरते जाओ ! रूस की भयंकर सर्दी में बर्फ के नीचे दब जाओ, लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी लोथ किसी भद्रपुरुष के रास्ते में न आ जाय ! रोते हुए बच्चों से कहोगे, माता की छातियों की ओर मत देखो, बाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खा कर भूख मिटाओ ! और अत्याचारी शासक तुम्हारी ओर देख कर मन ही मन हँसेंगे, और तुम्हारी अहिंसा की आड़ में निर्धनों का रक्त चूस कर ले जायेंगे ! यही है तुम्हारी शान्तिमय क्रान्ति, जिस का तुम्हें इतना अभिमान है।"

"अगर शासक अत्याचार करेंगे, तो उन के विरुद्ध आन्दोलन करना भी तो हमारा धर्म होगा।"

"धर्म ? वही धर्म, जिसे तुम एक स्कूल की नौकरी के लिए बेच खाते हो ? वही धर्म, जिस के नाम पर तुम स्कूल में इतिहास पढ़ाते समय इतने झूठ बकते हो ?"

मैंने क्रुद्ध हो कर कहा, "व्यक्तिगत आक्षेपों से कोई फायदा नहीं है। ऐसे तो मैं भी पूछ सकता हूँ, तुम्हीं ने कौन बड़ा बलिदान किया है ? एक आदमी को मार कर भाग आयीं, यही न ?"

मुझे उस पर बड़ा क्रोध आ रहा था। किन्तु जिस तरह वह छाती के बटन खोले, हाथ में तलवार लिये, दानवी की तरह खड़ी मेरी ओर देख रही थी, उसे देख कर मेरा साहस ही नहीं पड़ा कि उसे निकाल दूँ ! मैं प्रश्न पूछ कर उस की ओर देखने लगा। मुझे आशा थी कि वह मुझ पर से दृष्टि हटा लेगी, मेरे प्रश्न का उत्तर देते घबरायेगी, क्रुद्ध होगी। किन्तु यह सब कुछ भी नहीं हुआ। वह धीरे से कागज हटा कर मेरी मेज़ के एक कोने पर बैठ गयी, और तलवार की नोक मेरी ओर करती हुई बोली, "मैंने क्या किया है, सुनोगे तुम ? मैंने बलिदान कोई बड़ा नहीं किया, लेकिन देखा बहुत कुछ है। मेरे पास बहुत समय है—अभी गोरोवृस्की का पता किसी को नहीं लगा होगा। सुनोगे तुम ?"

पहले मैंने सोचा, सुन कर क्या करूँगा ? अभी लेख लिखना है, कल स्कूल भी जाना होगा, और फिर पुलिस—इसे कह दूँ, चली जाय। लेकिन फिर एक अदम्य कौतूहल, और अपनी हृदयहीनता पर ग्लानि-सी हुई। मैंने उठ कर अंगीठी में कोयले हिला कर आग तेज़ कर दी, एक और कुरसी उठा कर आग के पास रख दी, और अपनी जगह बैठ कर बोला, "हाँ, सुनूँगा। आग के पास उस कुर्सी पर बैठ कर सुनाओ, सर्दी बहुत है।"

वह वहीं बैठी रही, मानो मेरी बात उसने सुनी ही न हो। केवल तलवार एक ओर रख कर, कुछ आगे की ओर झुक कर आग की ओर देखने लगी। थोड़ी देर देख कर चौंक कर बोली, "हाँ सुनो। मैंने घर में आरामकुर्सी पर बैठ कर यन्त्रालयों में पिसते हुए श्रमजीवियों के लिए साम्यवाद पर लेख नहीं लिखे हैं। न मैंने मंच पर खड़े हो कर कृषकों को ज़बानी स्वातन्त्र्य-युद्ध की

मरीचिका दिखलायी है। मैंने घर-बार, माता-पिता, पति तक को छोड़ कर धक्के ही धक्के खाये हैं। सौभाग्य बेच कर अपने विश्वास की रक्षा की है। स्वत्त्व बचाने के लिए पिता की हत्या की है...और—और अपना स्त्री रूप बेच कर देश के लिए भिक्षा माँगी है—और आज फिर माँगने निकली हूँ।"

मेरे मुँह से अकस्मात् निकल गया, "किस से ?"

इस प्रश्न से मानों उस की विचार-शृंखला टूट गयी। तलवार की ओर देखती हुई बोली, "यह फिर बताऊँगी—वह मेरे अन्तिम—मेरे एकमात्र बलिदान की कहानी है।"

"विश्वास और स्वत्त्व की रक्षा—पिता की हत्या—मुझे कुछ भी समझ नहीं आया।"

"मेरे पिता पीटर्सबर्ग में पुलिस विभाग के सदस्य थे। मेरे पति भी वहाँ राजनैतिक विभाग में काम करते थे। कुटुम्ब में, वंश में, एक मैं ही थी, जिसने क्रान्ति का आह्वान सुना...फिर भी, कितने विरोध का सामना करना पड़ा! पहले-पहल जब मैं क्रान्तिदल में आयी, तो लोग मुझ पर सन्देह करने लग गये। न जाने किस अज्ञात शत्रु ने उनसे कह दिया, इसका पिता पुलिस में है, पति राजनैतिक विभाग में, इस से विनाश के अतिरिक्त और क्या आशा हो सकती है ? मैंने देखा, इतनी कामना, इतनी सदिच्छा होते हुए भी मैं अनादृता, परित्यक्ता-सी हूँ... मेरे पति को भी मेरी वृत्तियों का पता लग गया। फलस्वरूप एक दिन मैं चुपचाप घर से निकल गयी—उन्हें भी नौकरी छिन जाने का डर था! उस के बाद—उस के बाद मेरी परीक्षा का प्रश्न उठा! पति को छोड़ देने पर भी मुझे सदस्य नहीं बनाया गया—परीक्षा देने को कहा गया। कितनी भयंकर थी वह!"

क्षण भर आग की ओर देखने के बाद फिर उसने कहना शुरू किया : "मैं और चार और व्यक्ति पिस्तौल ले कर एक दिन सायंकाल को निकोलस पार्क में बैठ गये। उस दिन उधर से पीटर्सबर्ग की पुलिस दो बन्दियों को ले कर जाने वाली थी। इसी पर वार कर के बन्दियों को छुड़ाने का काम हमारे सुपुर्द हुआ था। यही मेरी परीक्षा थी!

"हम रात तक वहीं बैठे रहे। नौ बजे के लगभग पुलिस के बूटों की आहट आयी। हम सावधान हो गये। किसी ने पूछा, 'कौन बैठा है ?' हमने उत्तर नहीं दिया, गोलियाँ दागनी शुरू कर दीं। दो मिनट के अन्दर निर्णय हो गया—हमारे तीन आदमी खेत रहे, पर हमें सफलता हुई। बन्दी मुक्त हो गये। हम चारों शीघ्रता से पार्क से निकल कर अलग हो गये।"

मैं बहुत ध्यान से सुन रहा था। ऐसी कहानी मैंने कभी नहीं सुनी थी—पढ़ी भी नहीं थी...मैंने व्यग्रता से पूछा, "फिर ?"

"दूसरे दिन—दूसरे दिन मॉस्को में अखबार में पढ़ा, बन्दियों को ले कर जानेवाले अफसर थे—मेरे पिता !"

उस छोटे-से कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। वर्षा अब भी हो रही थी। मैं विमनस्क-सा हो कर छत पर पड़ रही बूँदें गिनने की चेष्टा करने लगा।

उसने पूछा, "और कुछ भी सुनोगे ?"

मैंने सिर झुका कर उत्तर दिया, "मैंने तुम लोगों पर अन्याय किया है। वास्तव में तुम्हें बहुत उत्सर्ग करना पड़ता है। मैं अभी तक नहीं जान पाया था।"

"हाँ, यह स्वाभाविक है। एक अकेले व्यक्ति की व्यथा, एक आदमी का दुःख हम समझ सकते हैं। एक प्राणी को पीड़ित देख कर हमारे हृदय में सहानुभूति जगती है—एक हूक-सी उठती है...किन्तु जाति, देश, राष्ट्र, ! कितना विराट् होता है ! इस की व्यथा, इस के दुःख से असंख्य व्यक्ति एक साथ ही पीड़ित होते हैं—इस में इतनी विशालता, इतनी भव्यता है कि हम यही नहीं समझ पाते कि व्यथा कहाँ हो रही है, हो भी रही है या नहीं।"

"ठीक है। तुम्हें बहुत दुःख झेलने पड़ते हैं। किन्तु इस प्रकार अकारण दुःख झेलना, चाहे कितनी ही धीरता से झेला जाय, बुद्धिमता तो नहीं है।"

"हमारे दुःख प्रसव-वेदना की तरह हैं, इस के बाद ही क्रान्ति का जन्म होगा। इस के बिना क्रान्ति की चेष्टा करना, क्रान्ति से फल प्राप्ति की आशा करना विडम्बना मात्र है।"

"लेकिन हर आन्दोलन किसी निर्धारित पथ पर ही चलता है, ऐसे तो

नहीं बढ़ता ?"

"क्रान्ति आन्दोलन नहीं है।"

"सुधार करने के लिए भी तो कोई आदर्श सामने रखना होता है ?"

"क्रान्ति सुधार नहीं है।"

"न सही। परिवर्त्तन ही सही। लेकिन परिवर्त्तन का भी तो ध्येय होता है !"

"क्रान्ति परिवर्त्तन भी नहीं है।"

मैंने सोचा, पूछूँ, तो फिर क्रान्ति है क्या ? किन्तु मैं बिना पूछे उस के मुख की ओर देखने लग गया। वह स्वयं बोली, "क्रान्ति आन्दोलन, सुधार, परिवर्त्तन कुछ भी नहीं है, क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की और विचार की प्रणालियों का घातक, विनाशकारी, भयंकर विस्फोट ! इस का न आदर्श है, न ध्येय, न धुर। क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्ध-कारिणी है !"

"ये तो सब बातें हैं। कवियों वाला शब्द-विन्यास है। ऐसी क्रान्ति से हमें मिलेगा क्या ?"

वह हँसने लगी। "क्रान्ति से क्या मिलेगा ? कुछ नहीं। जो कुछ है, शायद वह भी भस्म हो जायगा। पर इस से यह नहीं सिद्ध होता कि क्रान्ति का विरोध करना चाहिए। हमें इस बात का ध्यान भी नहीं करना चाहिए कि हमें क्रान्ति कर के क्या मिलेगा।"

"क्यों ?"

"कोढ़ का रोगी जब डाक्टर के पास जाता है, तो यही कहता है कि मेरा रोग छुड़ा दो। यह नहीं पूछता कि इस रोग को दूर कर के इस के बदले मुझे क्या दोगे ! क्रान्ति एक भयंकर औषध है, यह कड़वी है, पीड़ाजनक है, जलानेवाली है, किन्तु है औषध। रोग को मार अवश्य भगाती है। किन्तु इस के बाद, स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए, जिस पथ्य की आवश्यकता है, वह इस में खोजने पर निराशा ही होगी, इस के लिए क्रान्ति को दोष देना मूर्खता है।"

मैं निरुत्तर हो गया। चुपचाप उस के मुख की ओर देखने लगा। थोड़ी

देर बाद बोला, "एक बात पूछूँ ?"

"क्या ?"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"क्यों ?"

"यों ही। कुतूहल है।"

"पिता ने जो नाम दिया था, वह उस दिन छूट गया, जिस दिन विवाह हुआ। पति ने जो नाम दिया था, उसे मैं आज भूल गयी हूँ। अब मेरा नाम मेरिया इवानोवना है।"

कुछ देर हम फिर चुप रहे। मैंने तलवार की ओर देखते हुए पूछा, "यह—यह कैसे हुआ ?"

उस के उन विचित्र नील नेत्रों की सुषुप्त ज्वाला फिर जाग उठी। वह अपने हाथों की ओर देखती हुई बोली, "वह बहुत वीभत्स कहानी है।" फिर आप ही आप, "नहीं, रक्त नहीं लगा है।"

कुतूहल होते हुए भी मैंने आग्रह नहीं किया। इतनी देर में मैं कुछ-कुछ समझने लगा था कि इस स्त्री (या दानवी ?) से अनुनय-विनय करना व्यर्थ है, इस पर उस का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं चुपचाप इसी आशा में बैठा रहा कि शायद वह स्वयं ही कुछ कह दे। मुझे निराश भी नहीं होना पड़ा।

वह आग की ओर देखती हुई धीरे-धीरे बोली, "तो सुनो। आज जो-कुछ मैं कह रही हूँ, वह मैंने कभी किसी से नहीं कहा। शायद अब किसी से कहूँगी भी नहीं। जब मैं तुम्हारा पता पूछ कर यहाँ आयी, तब मुझे जरा भी ख्याल नहीं था कि तुम से कुछ भी बात करूँगी। केवल धन माँग कर चले जाने की इच्छा से आयी थी। अब—अब मेरा ख्याल बदल गया है। मुझे धन नहीं चाहिए। मैं—"

"क्यों ?"

"मैं अपना काम कर के मॉस्को से भाग जाना चाहती थी। किन्तु अब नहीं भागूँगी।"

"और क्या करोगी ?"

"अभी एक काम बाकी है। एक बार और भिक्षा माँगनी है। उस के बाद—"

वह एकाएक रुक गयी। फिर तलवार की धार पर तर्जनी फेरती हुई आप ही आप बोली, "कितनी तीक्ष्ण धार है यह !"

मैंने साहस कर के पूछा, "भिक्षा की बात तुमने पहले भी कही थी, और बलिदान की भी। मैं कुछ समझ नहीं पाया था।"

"अब कहने लगी हूँ, तो सब कुछ कहूँगी। अब लज्जा के लिए स्थान नहीं रह गया है। स्त्रीत्व तो पहले ही खो दिया था, आज मानवता भी चली गयी ! और फिर—आज के बाद—सब कुछ एक हो जायेगा। पर तुम चुपचाप सुनते जाओ, बीच में रोकना नहीं।"

मैं प्रतीक्षा में बैठ रहा। वह इस तरह निरीह हो कर कहानी कहने लगी, मानों स्वप्न में कह रही हो—मानों मशीन से ध्वनि निकल रही हो।

"तुमने माइकेल क्रेस्की का नाम सुना है ?"

"वही जो पीटर्सबर्ग में पुलिस के तीन अफसरों को मार कर लापता हो गये थे ?"

"हाँ, वही। वह हमारी संस्था के प्रधान थे।" यह कह कर उसने मेरी ओर देखा। मैं कुछ नहीं बोला, किन्तु मेरे मुख पर विस्मय का भाव उसने स्पष्ट देखा होगा। वह फिर कहने लगी, "वह कल यहीं मॉस्को में गिरफ्तार हो गये हैं।"

क्षण भर निःस्तब्धता रही।

"पर उन को गिरफ्तार करके ले जाने पर भी पुलिस को यह नहीं पता लगा कि वह कौन है। वह इसी सन्देह पर गिरफ्तार किये गये थे कि शायद क्रान्तिकारी हों। मुझे इस बात की खबर मिली, तो मैंने निश्चय किया कि जा कर पता लगाऊँ। मैं यह साधारण गँवार स्त्री की पोशाक पहन कर पुलिस विभाग के दफ्तर में गयी। वहाँ जा कर मैंने अपना परिचय यही दिया कि मैं उनकी बहिन हूँ, गाँव से उन्हें लेने आयी हूँ ! तब तक पुलिस को उन पर कोई सन्देह नहीं हुआ था। लेकिन इधर-उधर से—पीटर्सबर्ग से भी—पूछ-

ताछ हो रही थी।

"पहले तो मैंने सोचा कि पीटर्सबर्ग से अपने साथियों को बुला भेजूँ, उन से मिल कर उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करूँ। लेकिन इस के लिए समय नहीं था—न जाने कब उन्हें पीटर्सबर्ग से उत्तर आ जाय ! मैं अकेली सिवाय अनुनय-विनय के कुछ नहीं कर सकती थी...उफ ! अपनी अशक्तता पर कितना क्रोध आता था। मैं दाँत पीस कर रह गयी...जब तक ऐसे समय में अपनी असमर्थता, निस्सहायता का अनुभव नहीं होता, तब तक क्रान्ति की आवश्यकता भी पूरी तरह से नहीं समझ आ सकती।"

मेरी ओर देख और मुझे ध्यान से सुनता पा कर वह फिर बोली :

"फिर—फिर मैंने सोचा, जो कुछ मैं अकेले कर सकती हूँ, वह करना ही होगा ! अगर गिड़गिड़ाने से उन्हें छुड़ा सकूँ तो यह करना होगा, चाहे बाद में मुझे फाँसी पर भी लटकना पड़े ! मैंने निश्चय कर लिया—मेरी हिचकिचाहट दूर हो गयी। कल ही शाम को मैं जनरल कोल्पिन के बँगले पर गयी। उस समय वहाँ कर्नल गोरोव्स्की भी मौजूद था। पहले तो मुझे अन्दर जाना ही नहीं मिला, दरबान ने जो कुछ मेरे पास था, तलाशी में निकाल कर रख लिया। बहुत गिड़गिड़ा कर मैं अन्दर जा पायी !

"पहले जनरल कोल्पिन ने मुझे देखकर डाँट दिया। फिर न जाने क्या सोच कर बोला, 'क्यों क्या बात है ?' मैंने अपनी गढ़ी हुई कहानी कह सुनायी कि मेरा भाई निर्दोष था, पुलिस ने यों ही उसे पकड़ लिया। जनरल साहब बहुत बड़े आदमी हैं, सब कुछ उन के हाथ में है, जिसे चाहें उसे छोड़ सकते हैं...मैं उस के आगे रोयी भी, उस के पैर भी पकड़े—उस के जिसकी मैं जबान खींच लेती !

"वह चुपचाप सुनता रहा। जब मैं कह चुकी, तब भी कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर बाद उसने आँख से गोरोव्स्की को इशारा किया। कुछ कानाफूसी हुई। गोरोव्स्की ने मुझे कहा, 'इधर आओ, तुम से कुछ बात करनी है।' मैं उस के साथ दूसरे कमरे में चली गयी। वहाँ जा कर वह बोला, 'देखो, अभी सब कुछ हमारे हाथ में है, पर कल के बाद नहीं रहेगा। हमें उसे अदालत

में ले जाना होगा। फिर—'

"यह कह कर वह चुप हो गया। मैंने कहा, 'आप मालिक हैं, जैसा कहेंगे मैं करूँगी।' वह बोला, 'जनरल साहब तुम्हारे भाई पर दया करने को तैयार हैं—एक शर्त पर।' मैंने उत्सुक हो कर पूछा, क्या? वह मेरे बहुत पास आ गया। फिर धीरे-धीरे बोला, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो'..."

वह बोलते-बोलते चुप हो गयी। मैंने सिर उठा कर उस की ओर देखा, उस की आँखें विचित्र ज्योति से चमक रही थीं। वह एकाएक मेज़ पर से उठ कर मेरे सामने खड़ी हो गयी। बोली, "जानते हो, उस की क्या शर्त थी, जानते हो? ऐसी शर्त तुम्हें स्वप्न में भी न सूझेगी...यही एक शर्त थी, यही एक मात्र बलिदान था, जिस के लिए मैं तैयार हो कर नहीं गयी थी..."

वह फिर चुप हो गयी। दोनों हाथों से अपनी कमीज़ का कालर और गले का रुमाल पकड़ कर कुछ देर मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक झटका दे कर कमीज़ और रुमाल फाड़ती हुई बोली, 'देखो, अध्यापक! ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है?"

उस का मुख, जो कि रुमाल और टोपी से ढका हुआ था, अब एकदम स्पष्ट दीख रहा था। उस के नीचे उस का गला और वक्ष भी खुला हुआ था... उस का वह अपूर्व लावण्य, वह प्रस्फुटित सौन्दर्य, अधरों पर दबी हुई विषादयुक्त मुस्कान, हेमवर्ण कंठ और वक्ष...ऐसा अनुपम सौन्दर्य सचमुच मैंने पहले नहीं देखा था...मेरे शरीर में बिजली दौड़ गयी—फिर मैंने दृष्टि फेर ली...

किन्तु उस की वह आँखें...विस्फारित, निर्निमेष...उन का वह तुषार-कणों की तरह शीतल प्रदीपन...उन में विराग, क्रोध, करुणा, व्यथा की अनुपस्थिति...वह शुक्रतारे की हरित ज्योति...!

"यह है बलि! यह स्त्री का रूप है माइकेल क्रेस्की की मुक्ति का मूल्य!"

मैंने चाहा, कुछ कहूँ, चिल्लाऊँ, पर बहुत चेष्टा करने पर भी आवाज़ नहीं निकली!

"उसने, उस नर-पिशाच गोरोव्स्की ने, मेरे पास आ कर कहा, 'मेरिया इवानोव्ना तुम अपूर्व सुन्दरी हो—तुम्हारे लिये अपने भाई को छुड़ा लेना

साधारण-सी बात है'...मुझ पर मानो बिजली गिरी। क्षण भर मुझे इस शर्त का पूरा अभिप्राय भी न समझ आया। फिर समुद्र की लहरों की तरह मेरे हृदय में क्रोध उमड़ आया। मेरा मुख लाल हो गया। मैंने कहा, 'पापी! कुत्ते!' और तीव्र गति से बाहर निकल गयी। किन्तु पीछे उस की हँसी और ये शब्द सुनायी पड़े—'कल शाम तक प्रतीक्षा है, उस के बाद—'

"बाहर ठंडी हवा में आ कर मेरी सुध कुछ ठिकाने आयी। मैं शान्त हो कर सोचने लगी, मेरा कर्त्तव्य क्या है? माइकेल क्रेस्की का गौरव अधिक है या...उन्हें मर जाने दूँ? कभी नहीं! छुड़ाऊँ तो कैसे? इसी आशा में बैठ रहूँ कि शायद पुलिस को पता न लगे? प्रतारणा! कहीं वे उन्हें पहचान गये तो...! पीटर्सबर्ग से किसी को बुलाऊँ? पर उस के लिए समय कहाँ है! अकेली क्या करूँगी? वह शर्त...!

"प्रधान, हमारा कार्य, देश, राष्ट्र! इस के विरुद्ध क्या? एक स्त्री का सतीत्त्व...! मैंने निर्णय कर लिया। शायद मुझ से गलती हुई; शायद इस निर्णय के लिए संसार, मेरे अपने क्रान्तिवादी बन्धु, मेरे नाम पर थूकेंगे; शायद मुझे नरक की यातना भोगनी पड़ेगी...पर जो यातना मैंने निर्णय करने में सही है, उस से अधिक नरक में भी क्या होगा?"

वह फिर ठहर गयी। अब की बार मुझ से नहीं रहा गया। मैंने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा, "क्या निर्णय किया है?"

"अभी यहीं से जनरल कोल्पिन के घर जाऊँगी। पर सुनो, अभी मेरी कहानी समाप्त नहीं हुई। आज छः बजे मैं कर्नल गोरोव्स्की के घर गयी। मेरे आते ही वह हँस कर बोला, 'मेरिया, तुम जितनी सुन्दर हो, उतनी ही बुद्धिमती भी हो। इज्जत तो बार-बार बिगड़ कर भी बन जाती है, भाई बार-बार नहीं मिलते!' मैंने सिर झुका कर कहा, 'हाँ, आप साहब से कहला भेजें कि मुझे उन की शर्त मंजूर है।'

"वह उस समय वर्दी उतार कर रख रहा था। बोला, 'तुम यहीं ठहरो, मैं टेलीफोन पर कहे देता हूँ।' वह कोने में टेलिफोन पर बात करने लगा। उसकी पीठ मेरी ओर थी। मुझे एकाएक कुछ सूझा...मैंने म्यान में से उस की

तलवार निकाल ली—दबे पाँव जा कर उसके पीछे खड़ी हो गयी। टेलिफोन पर बातचीत हो चुकी—गोरोव्स्की उसे बन्द करके घूमने को ही था कि मैंने तलवार उस की पीठ में भोंक दी! उसने आह तक नहीं की—अनाज की बोरी की तरह भूमि पर बैठ गया! फिर मैंने उस की लोथ उठा कर खिड़की से बाहर डाल दी—और भाग निकली!"

मैंने पूछा, "तुम्हारे इन हाथों में इतनी शक्ति!"

वह हँस पड़ी, बोली, "मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। यह देखो!"

उसने तलवार उठाई, एक हाथ से मूठ और दूसरे से नोक थाम कर बोली, "यह देखो।" देखते-देखते उसने उसे चपटी ओर से घुटने पर मारा—तलवार दो टूक हो गयी! उसने वे दोनों टुकड़े मेरी मेज़ पर रख दिये।

मैंने पूछा, "अब—अब क्या करोगी?"

"अब कोल्पिन के यहाँ जाऊँगी। ऋेस्की को छुड़ाऊँगी। उस के बाद? उस के बाद—"

उसने अपनी जेब में हाथ डाल कर एक छोटा-सा रिवाल्वर निकाला। "यह भी गोरोव्स्की के यहाँ से मिल गया।"

"पर—इस का क्या करोगी?"

"प्रयोग!" कह कर उसने उसे छिपा लिया।

इस के बाद शायद चार-पाँच मिनट फिर कोई न बोला। मैंने उस की सारी कहानी का मन ही मन सिंहावलोकन किया। उस में कितनी वीभत्सता, कितनी करुणा थी! और उस का दोष क्या था? केवल इतना ही कि वह क्रान्तिकारिणी थी! एकाएक मुझे एक बात याद आ गयी। मैंने पूछा, "तुमने कहा था कि तुमने पहले भी भिक्षा माँगी थी—इसी प्रकार की। वह क्या बात थी, बताओगी?"

वह अब तक खड़ी थी, अब फिर मेज़ पर बैठ गयी। बोली, "वह पुरानी बात है। उन दिनों की, जब मैं पीटर्सबर्ग से भागी थी। अकेली नहीं, साथ में एक लड़की भी थी—तुमने पॉलिना का नाम सुना है?"

"हाँ, सुना तो है। इस समय याद नहीं आ रहा कि कहाँ।"

"वह नोव्गोरोड् में पकड़ी गयी थी—वेश्याओं की गली में—और गोली से उड़ा दी गयी थी।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। उस के बाद बहुत शोर भी मचा था कि यह क्यों हुआ, लेकिन कुछ पता नहीं लगा।"

"हाँ। उस दिन मैं भी नोव्गोरोड् में थी—उसी घर में! हम दोनों वहाँ रहती थीं। एक वेश्या के यहाँ ही। वहीं, नित्य प्रति रात को लोग आते थे, हमारे शरीरों को देखते थे, गन्दे संकेत करते थे, और हम बैठी सब कुछ देखा करती थीं। वहाँ, जब चूसे हुए नीबू की तरह बीमारियों से घुले हुए वे पूँजीपति साफ-साफ कपड़े पहन कर इठलाते हुए आते थे—उफ! जिसने वह नहीं देखा, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का दूरव्यापी परिणाम नहीं समझ सकता! धन के आधिक्य से ही कितनी बुराइयाँ समाज में आ जाती हैं—इस को जानने के लिए वह देखना जरूरी है!

"फिर वे आसपास की कोठरियों में चले जाते थे...किसी-किसी में अँधेरा हो जाता था...फिर..."

थोड़ी देर वह चुप रही। फिर बोली, "कभी-कभी उन में एक-आध नवयुवक भी आता था—शान्त, सुन्दर, सुडौल...उन के आने पर वह घर और उस में रहनेवाले—कितने विद्रूप, कितने वीभत्स मालूम होने लगते थे... किन्तु शायद अगर वे न आते, तो हमारी वहीं मृत्यु हो जाती—इतना ग्लानिमय दृश्य था वह!

"यही थे हमारे सहायक, हमारे सहकारी...हमें पीटर्सबर्ग से जो ऐलान बाँटने के लिए आते थे, वे हम इन्हें दे देती थीं—ये उन्हें बाँट आते थे। नोव्गोरोड् में हमने अपनी संस्था की शाखा इसी तरह बनायी। फिर नोव्-गोरोड् से आर्कएंजेल, फिर, जेरोस्लावल, फिर पीटर्सबर्ग और फिर वापस नोव्गोरोड्...आर्कएंजेल में तीन गवर्नरों की हत्या हुई, जेरोस्लावल में राज-कर्मचारियों के घर जला दिये गये, नोव्गोरोड् में पुलिस के कई अफसर मारे गये। फिर—पॉलिना पकड़ी गयी, और मैं मॉस्को में आ गयी..."

"पर वह पकड़ी कैसे गयी?"

"वे मुहल्ले जिनमें हम रहते थे, रात ही को खुलते थे...दिन में वे वैसे ही पड़े रहते थे, जैसे विस्फोट के बाद ज्वालामुखी का फटा हुआ शिखर... पर उस दिन ज़रूरी काम था—पॉलिना मोटा-सा कोट पहन, मुँह ढँक कर बाहर निकली। उस की जेब में कुछ पत्र थे और एक पिस्तौल, और वह पत्र पहुँचाने जा रही थी। इसी समय—"

घड़ी में टन्! टन्! ग्यारह बज गये। वह चौंक कर उठी और बोली, "बहुत देर हो गयी—अब मैं जाती हूँ।"

"कहाँ?"

"कोल्पिन के यहाँ—अन्तिम भिक्षा माँगने।"

उसने शीघ्रता से अपने कोट के बटन बन्द किये और उठ खड़ी हुई। मैं भी खड़ा हो गया।

मैंने रुक-रुक कर कहा, "स्वातन्त्र्य-युद्ध में बहुत सिरों की बलि देनी पड़ती है।" मानों मैं अपने आप को ही समझा रहा होऊँ।

वह बोली, "ऐसे स्वातन्त्र्य-युद्ध में सिर अधिक टूटते हैं या हृदय—कौन कह सकता है?"

मैं चुप हो कर खड़ा रहा। वह कुछ हँसी, फिर बोली, "जीवन कैसा विचित्र है, जानते हो, अध्यापक? मैं आयी थी धन ले कर विलुप्त हो जाने, और चली हूँ, स्मृति-स्वरूप वह बो कर—वह अशान्ति का बीज!"

जिधर उसने संकेत किया था, मैं उधर देखता ही रह गया। लैम्प और आग के प्रकाश में लाल-लाल चमक रही थी—उस टूटी हुई तलवार की मूठ!

सहसा किवाड़ खुल कर बन्द हो गया। मेरा स्वप्न टूट गया—मैंने आँख उठा कर देखा।

वर्षा अब भी हो रही थी—ओले भी पड़ रहे थे। किन्तु वह—वह वहाँ नहीं थी। था अकेला मैं—और वह अशान्ति का बीज!

वह बीज कैसे प्रस्फुटित हुआ, यह फिर कहूँगा। अभी उस दिन की घटना पूरी कहनी है।

वह चली गयी। पर मैं फिर अपना लेख नहीं लिख सका...एक बार

मैंने कागज़ों की ओर देखा, 'सफल क्रान्ति !' दो शब्द मेरी ओर देख कर हँस रहे थे...'विस्मृत आहुतियों का शान्ति-जनक निष्कर्ष !' प्रवंचना ! मैंने वे कागज़ फाड़ कर आग में डाल दिये । फिर भी शान्ति नहीं मिली । मैं सोचने लगा, इस के बाद वह क्या करेगी ? कोल्पिन के घर में...माइकेल क्रेस्की तो शायद मुक्त हो जायेंगे...किन्तु उस के बाद ?

उस उद्धार के फल-स्वरूप आनन्द, उल्लास, गौरव—कहाँ होंगे ? वहाँ होगी व्यथा, प्रज्वलन, पशुता का तांडव ! जहाँ स्वतन्त्रता का उद्दाम आह्वान होना चाहिए, वहाँ क्या होगा ?—एक स्त्री हृदय के टूटने की धीमी आवाज़ !

मैंने जा कर लैम्प बुझा दिया । कमरे में अँधेरा छा गया । केवल कहीं-कहीं अँगीठी की आग से लाल-लाल प्रकाश पड़ने लगा, और उस में कुर्सी की टाँगों की छाया एक विचित्र नृत्य करने लगी ! मैं उसे देखते-देखते फिर सोचने लगा—इसी समय कोल्पिन के घर में न-जाने क्या हो रहा होगा...मेरिया वहाँ पहुँच गयी होगी—शायद अब तक क्रेस्की मॉस्को की किसी गली में छिपने के लिए चल पड़े हों...वह क्या सोचते होंगे कि उन का उद्धार कैसे हुआ ? मेरिया की बात उन्हें मालूम होगी ? शायद वहाँ उन का मिलन हो जाय—किन्तु कोल्पिन क्यों होने देगा ? मेरिया के बलिदान की बात शायद कोई न जान पायेगा—किसी को भी मालूम नहीं होगा...असीम समुद्र में बहते हुए एकाएक बुझ जाने वाले दीप की तरह उस की कथा वहीं समाप्त हो जायेगी—और मैं उस का नाम तक नहीं जान पाऊँगा ! कैसी विडम्बना है यह !

घड़ी में बारह बजे । मैं चौंका : एक अत्यन्त वीभत्स दृश्य मेरी आँखों के आगे नाच गया । कोल्पिन और मेरिया...उस दृश्य के विचार को भी मैं नहीं सह सका ! मैंने उठ कर किवाड़ खोल दिये और दरवाज़े के बीच में खड़ा हो कर वर्षा को देखने लगा । कभी-कभी एक-आध ओला मेरे ऊपर पड़ जाता था, किन्तु मुझे उस का ध्यान भी नहीं हुआ । मैं आँखें फाड़ कर रात्रि के अन्धकार में वर्षा की बूँदें देखने की चेष्टा कर रहा था...

पूर्व में जब धुँधला-सा प्रकाश हो गया, तब मेरा वह जाग्रत-स्वप्न टूटा ।

तब मुझे ज्ञान हुआ कि मेरे हाथ-पैर सर्दी से संज्ञाशून्य हो गये हैं। मैंने मानों वर्षा से कहा, 'वहाँ जो कुछ होना था, अब तक हो चुका होगा।' फिर मैं किवाड़ बन्द कर अन्दर जा कर लेट गया और अपने ठिठुरे हुए अंगों को गर्मी पहुँचाने के लिए कम्बल लपेट कर पड़ रहा...

उस दिन की घटना यहीं समाप्त होती है; पर उस के बाद एक-दो घटनाएँ और हुईं, जिन का इस से घनिष्ट सम्बन्ध है। वह भी यहीं कहूँगा।

इस के दूसरे दिन मैंने पढ़ा, "कल रात को जनरल कोल्पिन और कर्नल गोरोव्स्की दोनों अपने घरों में मारे गये। जनरल कोल्पिन की हत्या एक स्त्री ने रिवाल्वर से की। उन को मारने के बाद उसने उसी रिवाल्वर से आत्मघात कर लिया। कर्नल गोरोव्स्की घर में तलवार से मारे पाये गये। कहा जाता है कि उन की अपनी तलवार और रिवाल्वर दोनों गायब हैं। जिस रिवाल्वर से जनरल कोल्पिन की हत्या की गयी, उस पर गोरोव्स्की का नाम लिखा हुआ है, इस से अनुमान किया जाता है कि गोरोव्स्की और कोल्पिन की घातक यही स्त्री है। पुलिस जोरों से अनुसन्धान कर रही है, लेकिन अभी इस के रहस्य का कुछ पता नहीं लगा है।"

क्रेस्की का कहीं नाम भी नहीं था।

यह रहस्य आज भी नहीं खुला। हाँ, इस के कुछ दिन बाद मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की पीटर्सबर्ग के पास पुलिस से लड़ते हुए मारे गये...

वह रहस्य दबा ही रह गया। शायद माइकेल क्रेस्की को स्वयं भी कभी यह नहीं ज्ञात हुआ कि वे मॉस्को से उस दिन आधी रात के समय क्यों एकाएक छोड़ दिये गये...

किन्तु अशान्ति का जो बीज मेरे हृदय में बोया गया था, वह नहीं दब सका। जिस दिन मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की मारे गये, उस दिन मेरी धमनियों में रूसी रक्त खौल उठा...क्रेस्की के कारण नहीं, किन्तु मेरिया के शब्दों की स्मृति के कारण। मैंने अपने स्कूल में एक व्याख्यान दिया, जिस में जीवन में पहली बार विशुद्ध हृदय से मैंने क्रान्ति का समर्थन किया था...

इस के बाद मुझे रूस से निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि क्रान्ति के

पोषकों के लिए रूस में स्थान नहीं था !

आज मैं पेरिस में रहता हूँ। मॉस्को की तरह अब भी मैं अध्यापन का काम कर रहा हूँ, किन्तु अब उस में मेरी रुचि नहीं है। आज भी मैं क्रान्ति-विषयक पुस्तकों का अध्ययन करता हूँ, किन्तु अब पढ़ते समय मेरा ध्यान अपनी अनभिज्ञता की ओर ही रहता है। आज भी मेरा वह संग्रह उसी भाँति पड़ा है, किन्तु अब उस की सब से अमूल्य वस्तु है वह टूटी हुई तलवार ! हाँ, अब मैंने व्याख्यान देना छोड़ दिया है—अब एक विचित्र विषादमय अशान्ति, एक विक्षोभमय ग्लानि, मेरे हृदय में घर किये रहती है....

ज्वालामुखी से आग निकलती है और बुझ जाती है, किन्तु जमे हुए लावा के काले-काले पत्थर पड़े रह जाते हैं। आँधी आती है और चली जाती है, किन्तु वृक्षों की टूटी हुई शाखें सूखती रहती हैं। नदी में पानी चढ़ता है और उतर जाता है, किन्तु उस के प्रवाह से एकत्रित घास-फूस, लकड़ी, किनारे पर सड़ती रह जाती है। वह टूटी तलवार भी उस के आवागमन का स्मृति-चिन्ह है। जब भी इस की ओर देखता हूँ, दो धधकते हुए, निर्निमेष वृत्त मेरे आगे आ जाते हैं, मैं सहसा पूछ बैठता हूँ, "मेरिया इवानोव्ना, तुम मानवी थीं, या दानवी, या स्वर्ग-भ्रष्टा विपथगा देवी ?"

सितम्बर, १९३१

अकलंक

वे दोनों उस टीले की चोटी पर खड़े थे। चारों ओर काले-काले बादल घिरे हुए थे, धारासार वर्षा हो रही थी, टीले के नीचे घहराता हुआ ह्वांग-हो नदी का प्रवाह था, और जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पानी-ही-पानी नज़र आता था।

वे दोनों वर्षा की तनिक भी परवाह न करते हुए टीले के शिखर पर खड़े थे।

वह चीनी प्रजातन्त्र सेना की वर्दी पहने हुए था, और भीगता हुआ सावधान मुद्रा में खड़ा था।

स्त्री ने एक बड़ी-सी खाकी बरसाती में अपना शरीर लपेट रखा था। उस के वस्त्राभूषण कुछ भी नहीं दीख पड़ते थे। उसने वेदना-भरे स्वर में कहा, "मार्टिन, तुम्हें भी अपना घर डुबा देना होगा। मेंड़ काट देना, नदी स्वयं भर आयेगी।"

मार्टिन कुछ देर चुप रहा। फिर बोला, "क्रिस, क्या इस के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है ?"

स्त्री ने चौंक कर कहा, "मार्टिन, यह क्या ? सेनापति की जो आज्ञा है, उस का उल्लंघन करोगे ?"

"उल्लंघन नहीं। लेकिन अगर विना शत्रु को आश्रय दिये ही घर बच जाय, तो क्यों न बचा लिया जाय ?"

"औरों के भी तो घर थे ?"

"वे किसान थे। मैं राष्ट्र का सैनिक हूँ। शायद अपने घर की शत्रु से रक्षा कर सकूँ।"

"मार्टिन, तुम्हें क्या हो गया है ? तुम अकेले क्या करोगे ? हम सब यहाँ से चले जायेंगे। शत्रु के लिए इतना विशाल भवन छोड़ दोगे, तो हमारे बलिदान का क्या लाभ होगा ? हमने अपने घर डुबा दिये हैं, केवल इसी लिए कि शत्रु को आश्रय न मिले। और तुम अपना घर रह जाने दोगे ?"

"मेरा घर इतना विशाल है कि उस में समूचा गाँव आ कर रह सकता है ।"

"इसी लिए तो उसे डुबाना अधिक आवश्यक है । मार्टिन, सम्पत्ति का इतना मोह !"

मार्टिन को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसी ने उसे थप्पड़ मार दिया हो । तन कर बोला, "क्रिस, यह मोह नहीं है ।" फिर एकाएक पास आ कर उसने स्त्री का हाथ पकड़ लिया । "क्रिस, अभी तुम्हें नहीं समझा सकूँगा कि क्या चाहता हूँ; किन्तु विश्वास रखो, मैं जो करना चाहता हूँ, उसी में देश का भला है । तुम इतना विश्वास नहीं करतीं ?" कह कर मार्टिन उसे अपनी ओर खींचने लगा ।

स्त्री ने झटक कर हाथ छुड़ा लिया, और अलग हट कर खड़ी हो गयी । बोली, "तुम अपना कर्त्तव्य नहीं कर रहे, मैं तो यही समझ पाती हूँ । सैनिक हो, सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हो । इस से अधिक क्या लाभ सोच रहे हो, कौन गुरुतर कर्त्तव्य, मैं नहीं जानती, न जानना ही चाहती हूँ ।" वह घूम कर टीले से उतर चली ।

मार्टिन क्षण-भर तक स्तब्ध रह गया । फिर उसने व्यथित स्वर में पुकारा, "क्रिस्टाबेल ! क्रिस्टाबेल !"

किन्तु क्रिस्टाबेल ने मुँह फेर कर देखा भी नहीं ।

मार्टिन ने एक लम्बी साँस ली, और फिर टीले से दूसरी ओर उतरने लगा । उतर कर वह जल्दी-जल्दी कदम रखता हुआ चला । कोई मील-भर जा कर वह एक बड़े भवन के पास पहुँच गया । उसने दरवाज़े पर से ही आवाज दी, "कोई है ?"

एक भृत्य आ कर सामने खड़ा हो गया । मार्टिन ने तीव्र दृष्टि से उस की ओर देख कर कहा, "तीन घोड़े ले आओ और पहनने को कपड़े । जीन एक ही घोड़े पर डालना ।"

भृत्य ने अत्यन्त विस्मय के स्वर में कहा, "यहीं पर ?"

"हाँ, यहीं ! फौरन !"

भृत्य भवन के अन्दर गया और कपड़े ले आया । मार्टिन ने कपड़े ले लिये,

और बोला, "कपड़े मैं स्वयं पहन लूँगा; तुम घोड़े ले आओ !"

भृत्य चुपचाप चला गया। जब वह घोड़े ले कर आया, तब मार्टिन वस्त्र बदल चुका था और घुड़सवारी के उपयुक्त वेश में खड़ा था। घोड़ों के आते ही वह एक पर सवार हो गया और बोला, "मेरी बन्दूक ले आओ।"

भृत्य दौड़ कर बन्दूक ले आया। फिर उसने आदर-भाव से पूछा, "कब लौटना होगा ?"

मार्टिन ने घोड़े को एड़ लगाते हुए कहा, "तुम से मतलब ?"

थोड़ी देर में घुड़सवार, उसका घोड़ा और उस के अनुगामी दोनों घोड़े भी आँखों से ओझल हो गये। भृत्य तब तक वहीं खड़ा उसे देखता रहा, विस्मय का भाव उस के मुख पर उसी भाँति बना रहा।

२

"तुमने सुना ? मार्टिन द्रोही है।"

"क्यों ? कैसे ? क्या हुआ ?"

वर्षा हो रही थी। एक छोटे-से मैदान में बहुत से स्त्री-पुरुष एकत्र थे। प्रत्येक के पास एक-आध छोटी गठरी थी, जिस में उन्होंने अपनी ऐहिक संपत्ति बाँध रखी थी। किसी-किसी भाग्यशाली के पास एक गधा भी था, जिस पर उसने कुछ सामान लाद रखा था। अनेक स्त्रियों को घेरे हुए, या उन की गोद में, छोटे-छोटे बच्चे भी थे। सब-के-सब सर्दी से ठिठुर रहे थे; किन्तु कोई भी इसकी शिकायत नहीं कर रहा था। सब के मन में एक ही भाव था कि अगर हमारे मन में छिपी हुई पीड़ा और अशान्ति व्यक्त हो जायगी, तो फिर हमारा साहस टूट जायगा...उस मूक अभिमान के कारण ही वे अब तक बचे हुए थे। उन्हें उस स्थान पर, उस दशा में, एक ही रात काटनी थी, क्योंकि प्रातःकाल ही उन्हें ले जाने के लिए दूसरे गाँव से कुछ घोड़े आने वाले थे। फिर भी, वे किसान थे, ग़रीब थे, अपनी दो हाथ भूमि और दो-मुट्ठी अन्न को प्राणों से भी अधिक चाहते थे !

रात के दस बज चुके थे। कृषक-समूह, जो अब तक प्रतीक्षापूर्ण नेत्रों से मार्टिन के घर की ओर देख रहा था, अब यह समाचार पा कर सिहर उठा।

"क्यों ? कैसे ? क्या हुआ ?"

"तुमने सुना नहीं ? उसने कहा है कि मैं सेनापति की आज्ञा मानने को बाध्य नहीं हूँ। जो अच्छा समझूँगा, करूँगा।"

"तुम से किसने कहा।"

"क्रिस्टाबेल उसे कहने गयी थी, उसी से उसने यह बात कही है। उस के बाद ही वह घर से तीन घोड़े ले कर कहीं चला गया है ?"

लोग अब तब थके हुए और उन्मन बैठे थे, अब मानो वेदना की तन्द्रा से जागे और पूछने लगे, "अब क्या होगा ?" अनेक मुखों से अनेक प्रकार की आलोचनाएँ होने लगीं।

"होगा क्या ? द्रोही है तो कोर्ट-मार्शल होगा।"

"द्रोही नहीं, बल्कि कायर है। द्रोह करने के लिए भी हिम्मत चाहिए।"

"कायर को भी कोर्ट-मार्शल से प्राण-दंड मिलेगा।"

"अब तक हम उसे कितना अच्छा समझते थे !"

एक वृद्ध ने, जो अब तक चुपचाप तमाखू चबा रहा था, उसे थूक कर कहा, "भई, तुम लोग चाहे जो कहो, मुझे तो उस पर विश्वास है। इतना सीधा, इतना सदय, दूसरों का भला करनेवाला और त्यागी आदमी द्रोही हो सकता है, यह मेरा मन नहीं मानता। तुम्हें याद है, महामारी में उसने कैसे गाँव में रह कर दिन-रात सेवा की थी ? कहाँ-कहाँ से डाक्टर बुलाये थे, दवाइयाँ मँगायी थीं ? जिस दिन मेरा लड़का बीमार हुआ,"—कहते-कहते वृद्ध की आँखें डबडबा आयीं—"उस दिन सारी रात वह उस के पास बैठा रहा। मैंने कई बार कहा, अब चले जाओ, सोओ; पर नहीं माना। हमीं से कहता रहा, तुम थके हुए हो, थोड़ा आराम कर लो, कल अच्छा हो जायगा; पर बेचारे को अच्छा ही नहीं होना था !" कुछ रुक कर फिर, "और अब तक भी, हमें जिस चीज की जरूरत होती है, उसी के पास जाते हैं कि नहीं ? तुम चाहे जो कहो, मैं तो यही कहूँगा कि उस का नाम जिसने अकलंक रखा, ठीक रखा। वह ईसाई है, तो क्या हुआ ? मैं तो उसे हमेशा अकलंक कहूँगा।"

एक युवक बोला, "दादा, इतने जोश में न आओ। वह हमारी भलाइयाँ

तो करता रहा है; लेकिन क्या इस से उस को कीर्ति नहीं मिलती ? और फिर जो भीरु होते हैं, वे प्राय: अच्छे ही जान पड़ते हैं, क्योंकि उन में बुरा करने की हिम्मत ही नहीं होती !"

विषय ऐसा था कि प्रातःकाल होने तक समाप्त न होता; पर एकाएक कुछ दूर पर से एक स्त्री के चीखने का स्वर आया। लोग चौंक कर चुप हो गये, दो-तीन ने पुकार कर पूछा, "क्या हुआ ?"

किन्तु यह प्रश्न व्यर्थ था, इस का कोई उत्तर भी नहीं मिला। एक विधवा की लड़की पाँच-छः दिन से न्युमोनिया से पीड़ित थी, वह इस घोर शीत को नहीं सह सकी—एक ही हिचकी के झटके से वह इस लोक के बन्धन तोड़ कर चली गयी थी। उसी की माता रो रही थी।

लोगों का साहस टूटने के बहुत निकट पहुँच गया। उन्हें एकाएक अपने जीवन की क्षुद्रता और असारता का बोध हो आया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि कोई अदृश्य, भैरव और निर्दय अनिष्ट उन के सिर पर मँडरा रहा हो। उस अमानुषी शक्ति की उपस्थिति के ज्ञान से सब एकाएक स्तब्ध हो कर एक दूसरे का मुख देखने लगे; किन्तु कोई किसी से आँख नहीं मिलाता था, मानो इसी आशंका से कि जो भय उनकी आँखों में था, उसी की प्रतिच्छाया दूसरों की आँखों में न दीख जाय।

एकाएक दूर पर घोड़े की टाप सुन पड़ी—कभी भूमि पर पड़ती हुई कठोर टटटप् ! टटटप् ! टटटप् ! फिर कुछ देर के लिए कीच-पानी में छिप्-शश् ! छिप्-शश् !

किसी ने कहा, "क्रिस्टाबेल लौट आयी !"

"लेकिन यह तो दो-तीन घोड़ों का स्वर है।"

इस समस्या का हल अपने आप हो गया। घोड़े उसी मैदान के सिरे पर आ कर रुक गये। दो घोड़ों पर बरसातों से बँधे हुए बोझ लदे थे, तीसरे पर सवार था।

सवार ने उस रोती हुई वृद्धा से पूछा, "क्या हुआ ?" स्वर मार्टिन का था।

वृद्धा ने कोई उत्तर नहीं दिया, और भी जोर से रोने लगी।

मार्टिन घोड़े पर से उतर पड़ा, देख कर स्थिति समझ गया। सकरुण स्वर से बोला, "माई, तुम मेरे घर चलो न ?"

"घर ? घर कहाँ है ? सब तो डूब गये।"

"मेरा घर बाकी है।"

"तुम कौन हो ?"

पास बैठे हुए एक युवक ने तिरस्कारपूर्ण स्वर में जोर से कहा, "ये हैं अकलंक, हमारे गाँव के रक्षक !"

मार्टिन चौंका। एक बार उसने चारों ओर देखा। फिर उसे कुछ याद आ गया। जिस घोर प्रयास से उसने अपने को वश में किया, उस के लक्षण उस के मुख पर स्पष्ट दीखते थे। फिर वह सब की ओर उन्मुख होकर बोला, "तुम सब चाहो, तो मेरे घर चल कर रहो। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

कोई उत्तर नहीं मिला।

मार्टिन फिर कुछ काँपते-से स्वर में बोला, "माई, तुम तो चली चलो। शायद मैं इस लड़की की कुछ दवा-दारू कर सकूँ ?"

"जब कोई नहीं जाता, तब मैं भी सब सह लूँगी। लड़की तो अब मर चुकी। मैं कायर नहीं हूँ।"

मार्टिन ने सिर झुका लिया। घोड़े की लगाम पकड़ कर धीरे-धीरे आगे चल दिया, कुछ बोल नहीं सका।

पीछे से हँसी की—तिरस्कारपूर्ण हँसी की—ध्वनि आयी। दो-तीन स्वरों ने एक साथ ही कहा, "अकलंक ! कायर !"

३

घर के आगे पहुँच कर मार्टिन ने स्वयं ही घोड़ों पर से बोझ उतारा और एक-एक को उठा कर भीतर ले गया। उस के पैरों के शब्द सुन कर जो नौकर देखने आया था, वह चुपचाप खड़ा देखता रहा, उसे इतना साहस भी नहीं हुआ कि आगे बढ़ कर सामान उठाने की चेष्टा करे।

मार्टिन ने स्वयं ही उस से कहा—"घोड़ों को ले जाओ।" तब एकाएक बिजली से संजीवित व्यक्ति की तरह वह बाहर दौड़ पड़ा।

मार्टिन ने सब दरवाज़े बन्द कर लिये और एक कोने में पड़ी हुई कुदाली और फावड़ा निकाल कर खोदने लगा। कमरे के मध्य में जब वह काफी बड़ा गड्ढा खोद चुका, तब उसने एक बार कमर सीधी की और फिर घोड़ों पर के दोनों बोझ उस में डाल दिये। फिर उसने अपनी कमर पर लिपटी हुई बहुत लम्बी एक रस्सी-सी खोली, और उस का एक छोर उन गट्ठरों के भीतर रख दिया। इस के बाद उसने गड्ढे को पूर्ववत् भर दिया, और वहाँ से किवाड़ तक, और किवाड़ के बाहर बहुत दूर तक, एक नाली-सी खोद कर उस में रस्सी दबा दी। जब वह घर से लगभग साठ गज दूर पहुँचा, तब रस्सी समाप्त हो गयी। उसने यहाँ पर उस का सिर बाहर रख के उसपर कुछ सड़े पत्तों और लकड़ियों का छोटा-सा ढेर लगा दिया। फिर वह घर के भीतर आया और किवाड़ बन्द कर के बैठकर न-जाने क्या-क्या सोचने लगा।

४

सबेरा नहीं हुआ था। उषा भी नहीं हुई थी; किन्तु फिर भी रात्रि के अंधकार के रंग में कुछ परिवर्तन हो गया था—वह कुछ भूरा-सा हो गया था। इस से अनुमान किया जा सकता था कि सूर्योदय में कुछ ही देर थी। वर्षा अभी होती जा रही थी।

मैदान में बैठे हुए लोग सो नहीं पाये थे। वे अशान्ति और औत्सुक्य से क्रिस्टाबेल की प्रतीक्षा कर रहे थे। क्रिस्टाबेल शाम ही से दूसरे गाँव से घोड़े लाने गयी थी, जो कि उन लोगों को ले जानेवाले थे।

उग्र प्रतीक्षा सदा ही फलीभूत होती है। एकाएक किसी ने चिल्ला कर कहा, "प्रजातन्त्र की जय! क्रिस्टाबेल आ गयी है!"

बहुत से लोग उठ खड़े हुए। क्रिस्टाबेल घोड़े से उतर कर नीचे बैठ गयी और बोली—"मैं कितनी थक गयी हूँ—!" फिर चारों ओर देख कर बोली, "चलो, अब देर क्या है?"

"कुछ नहीं। एक बुढ़िया की लड़की—"

"हाँ, मैंने सुना। वे अभी लौट आयेंगे—तुम लोग तैयार हो लो।"

किसी ने पूछा, "और मार्टिन का क्या होगा?"

क्रिस्टाबेल का मुँह लाल हो आया। फिर वह रुक कर बोली, "क्यों, उस का क्या होना है ?"

"वह तो हमारे विरुद्ध जा रहा है।"

"क्यों ?"

"अपना घर बचा रहा है—और कल कुछ रसद भी ले आया है। मालूम होता है, यहीं रहेगा।"

क्रिस्टाबेल कुछ देर चुप रही। फिर बोली, "तुम लोग चल पड़ो, मैं अभी आती हूँ। मुझे एक नया घोड़ा दे दो।"

दूसरा घोड़ा ले कर वह मार्टिन के घर की ओर चल पड़ी। मैदान में बैठे हुए लोग तत्परता से घोड़े लादने लगे।

मार्टिन अपने घर के बाहर ही टहल रहा था। क्रिस्टाबेल को आते देख कर रुक गया और एकटक उस की ओर देखने लगा।

क्रिस्टाबेल ने बिना भूमिका के कहा, "मार्टिन, यह क्या सुनती हूँ ?"

"यही सुना होगा कि अकलंक अब कलंकी हो गया है ?"

क्रिस्टाबेल यह प्रश्न सुन कर सहम गयी और सहसा कुछ कह नहीं सकी।

मार्टिन ने स्वयं ही फिर कहा, "क्रिस्टाबेल, मैं तुम्हें कह चुका हूँ कि मैं देश का भला सोच रहा हूँ। सारा गाँव मेरे विरुद्ध है, क्या तुम भी मेरा विश्वास नहीं कर सकतीं ?"

क्रिस्टाबेल बोली, "मैं क्या करूँ ? तुमने मुझे कोई कारण तो बताया नहीं ?"

"कारण बताने में विवश हूँ। पर क्या तुम इतना भी विश्वास नहीं कर सकतीं ?"

"मैं तो विश्वास करती हूँ, तुम स्वयं ही मुझ से कुछ छिपा रहे हो।"

"अगर कर्त्तव्य कोई बात छिपाने को कहे—"

"मेरे प्रति तुम्हारा क्या कोई कर्त्तव्य नहीं है ?"

"क्रिस, मुझे अधिक पीड़ित न करो। मैं विवश हूँ, इतना मान लो।"

क्रिस्टाबेल फिर बहुत देर तक चुप रही। फिर एक लम्बी साँस ले कर

मुँह फेर कर चल दी ।

"कहाँ जा रही हो, क्रिस ?"

क्रिस ने दबे हुए उद्वेग के स्वर में उत्तर दिया, "कहीं नहीं, अपना कर्त्तव्य मुझे भी निश्चित करना है ।"

"क्रिस, तुम नाराज़ हो गयीं—"

"यह प्रेमालाप का समय नहीं है—"

"अगर मैं कारण बता दूँ, तो विश्वास करोगी ?"

क्रिस एकाएक ठिठक गयी और बोली—"क्या ?"

मार्टिन बहुत देर तक स्थिर दृष्टि से उस के मुख की ओर देखता रहा, कुछ बोला नहीं । फिर, "नहीं, विश्वास मोल नहीं लिया जाता । तुम जाओ !"

मार्टिन के हृदय की उथल-पुथल को क्रिस्टाबेल नहीं समझ पायी । क्रुद्ध सर्पिणी की तरह घूम कर तीव्र गति से चल दी । मार्टिन ने धीरे से कहा, "अविश्वासिनी !"

उस के स्वर में क्रोध की अपेक्षा वेदना ही अधिक थी, इस बात को क्रिस्टा-बेल नहीं समझ सकी । उसने क्षण भर के लिए रुक कर बिना मुख फेरे ही कहा, "कायर !"

जिस समय क्रिस्टाबेल मैदान पर पहुँची, तब लोगों ने देखा, उस की आँखों में एक अमानुषी तेज था । उसने चुपचाप एक घोड़ा चुना और उछल कर चढ़ गयी ।

एक वृद्ध ने सहानुभूति के स्वर में पूछा, "क्रिस, कहाँ जाओगी ?"

क्रिस्टाबेल ने बिना किसी की ओर देखे ही उत्तर दिया, "यांगसिन, सेनापति से रिपोर्ट करने ।"

"कैसी रिपोर्ट ?"

"वह कायर है, कायर !" कहते-कहते क्रिस्टाबेल ने घोड़े को एड़ दी और बात-की-बात में बहुत दूर निकल गयी । जब वह बिल्कुल ओझल हो गयी, तब लोगों की भाव-तरंगिनी को निकलने की राह मिली, एक ही गगनकम्पी हुंकार में—"क्रिस्टाबेल की जय !"

५

जिस समय सैनिकों का दल मार्टिन को बन्दी करने आया और किवाड़ बन्द पा कर खटकाने लगा, तब मार्टिन अपनी बन्दूक ले कर सामने आया और ललकार कर बोला, "क्या है ?" किन्तु कहते-कहते उसने देखा, सैनिकों के साथ क्रिस्टाबेल भी है। उसे देख कर मार्टिन ने बन्दूक आकाश की ओर कर के दाग दी और फिर ज़मीन पर पटक दी। बदले हुए स्वर में फिर पूछा, "क्या है ?"

"हम तुम्हें बन्दी करने आये हैं—प्रजातन्त्र के नाम पर।"

"किस अपराध के लिए ?"

"कायरता के लिए।"

"मुझे ?" कह कर मार्टिन ने एक बार फिर क्रिस्टाबेल की ओर देखा; पर उसने आँख नहीं मिलायी। मार्टिन बोला—"मैं तैयार हूँ, चलो ! मैंने हथियार डाल दिये हैं।"

सैनिकों ने उसे बीच में ले लिया। उन के नायक ने क्रिस्टाबेल से पूछा, "आप कहाँ जायेंगी, हमारे साथ ही ?"

"नहीं, तुम जाओ। मुझे अपना काम है।"

सैनिक बन्दी को ले कर आगे बढ़ने लगे। जब वे कुछ दूर चले गये, तब क्रिस्टाबेल एक हल्की-सी चीख मार कर कीच में ही बैठ गयी, "मार्टिन ! मार्टिन !"

पता नहीं, बन्दी ने उसे सुना भी कि नहीं। उस के मुख का भाव ज़रा भी नहीं बदला। शायद सैनिकों के पद-रव में वह डूब गयी थी, वह करुण पुकार—"मार्टिन !"

६

"प्रहरी !"

"क्या है ?"

"एक बात सुनोगे ?"

"अगर प्रजातन्त्र के खिलाफ नहीं होगी, तो सुन लूँगा।"

"तो ज़रा पास सरक आओ।"

पहरेदार बन्दी के पास आ गया। बन्दी ने कहा—"जानते हो, कल मेरा कोर्ट-मार्शल होना है।"

"हाँ, जानता हूँ।"

"शायद—अवश्य—प्राणदंड की आज्ञा होगी।"

"हाँ, यही सम्भावना है।"

"मेरा एक पत्र पहुँचा दोगे?"

"किसे?"

"स्त्री-सेना की एक वालंटियर को।"

"वह तुम्हारी कौन है?"

मार्टिन ने इस का उत्तर नहीं दिया। बोला—"मुझे अब फिर किसी से मिलने या बोलने का अवसर नहीं मिलेगा, इसी से कहता हूँ।"

पहरेदार ने कुछ सोच कर कहा—"काम तो सहज नहीं है। और फिर—"

"और क्या?"

"मैं तुम्हारी सहायता क्यों करूँ? तुम तो—"

"कह दो न, रुक क्यों गये?"

पहरेदार फिर चुप हो रहा। यह देख कर मार्टिन स्वयं ही बोला—"मैं कायर हूँ, देश का शत्रु हूँ, यही न?"

पहरेदार ने बिना कुछ कहे सिर झुका लिया। उस की यह अर्द्ध-व्यक्त स्वीकृति देख कर मार्टिन बोला, "मेरे पास इस का उत्तर नहीं है। तुम्हें क्या कहूँ? अगर कहता हूँ कि मैं कायर नहीं हूँ, तो तुम अपने मन में सोचोगे, सभी कायर ऐसा कहा करते हैं। इस लिए इतना ही कहूँगा, मैं मनुष्य हूँ, मेरे हृदय है और अभिमान भी।"

मार्टिन थोड़ी देर प्रहरी की ओर चुपचाप देखता रहा। फिर बोला—"ले जाओगे?"

प्रहरी ने धीरे से कहा—"हाँ, ड्यूटी बदलने से पहले दे देना।"

"मैंने लिख रखा है। अभी ले लो, कोई नहीं देख रहा है।"

यह कह कर मार्टिन ने शीघ्रता से एक छोटा-सा पुर्जा सिपाही की ओर बढ़ा दिया। सिपाही ने उसे अपनी बन्दूक की नली में डाल लिया और बोला, "मैंने तुम्हारा विश्वास किया है—देखना।"

मार्टिन ने उत्तर नहीं दिया, एक बार उस की ओर देख-भर दिया। उस दृष्टि में न-जाने क्या था, उसे लक्ष्य कर प्रहरी चुपचाप सिर झुकाये इधर-उधर घूमने लगा।

मार्टिन कोठरी के मध्य में जा कर बैठ गया और छत के एक छोटे-से रोशनदान की ओर देखने लगा। एक बार चौंक कर बोला—"हैं? यह मैंने क्या किया?" फिर थोड़ी देर के लिए चुप हो गया। फिर एक लम्बी साँस ले कर बोला—"विराट् प्रेम का अन्त भी विराट् होना चाहिए। मैं उसे अपनी व्यथा क्यों दिखाऊँ?"

मार्टिन ऐसी प्रश्न-भरी मुद्रा से उस रोशनदान की ओर देखने लगा, मानो उसी से उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हो।

७

मार्टिन के विशाल भवन के चारों ओर सैनिकों का पहरा था; किन्तु सैनिक प्रजातन्त्र के नहीं थे। मकान के अन्दर से गाने की ध्वनि आ रही थी; किन्तु वे प्रजातन्त्र के राष्ट्र-गीत के स्वर नहीं थे। मार्टिन के भवन पर आज शत्रु-सेना का अधिकार था, आज देश के सात सौ शत्रु उस में आश्रय पा रहे थे और अधिकाधिक दक्षिण की ओर बढ़ने के मनसूबे बाँध रहे थे।

और भवन के बाहर चारों ओर पतली कीच थी— काली-काली, केवल कहीं-कहीं भवन से आनेवाले प्रकाश के कारण दीप्त...

भवन से दूर पर छोटे-छोटे पेड़ों के झुरमुट में क्रिस्टाबेल खड़ी थी। उस के पास ही एक पेड़ से घोड़ा बँधा था। क्रिस्टाबेल एकाग्र दृष्टि से भवन की ओर देख रही थी; किन्तु ध्यान से देखने पर मालूम हो जाता था कि उस की आँखें उधर लगी होने पर भी ध्यान उधर नहीं था।

भवन के अन्दर शायद कोई उत्सव हो रहा था—और इसी लिए कभी-

कभी शायद अग्नि की उद्दीप्ति के कारण उस के अन्दर प्रकाश बढ़ जाता था। उस प्रकाश की एक-आध झलक रात्रि के अन्धकार को भेद कर उस झुरमुट तक पहुँच जाती थी, तो उसमें क्रिस्टाबेल का वह तना हुआ चेहरा और चमकती हुई आँखें—आँसू-भरी आँखें—स्पष्ट दीख जाती थीं।

क्रिस्टाबेल ने आप-ही-आप कहा, "आज दंड हो चुका होगा...और कल—मैं..."

रुक कर वह फिर उस ससंज्ञ तन्द्रा में पड़ गयी।

"मार्टिन...मेरा दुर्भाग्य..."

एकाएक मानो किसी दृढ़ निश्चय से प्रेरित हो कर उसने अपने शरीर को झटका दिया और भवन पर से आँखें हटा लीं। किन्तु तत्काल ही उस का शरीर जड़ हो गया, मानो कोई चिड़िया साँप की सम्मोहन दृष्टि से निकलने का व्यर्थ प्रयत्न कर के थक गयी हो।

वह फिर भवन की ओर देखने लगी।

"ईसा, ईसा, अगर उस के दिल में इतना साहस होता—अगर मेरे हाथों में इतनी शक्ति..."

एकाएक वह चौंकी। घोड़े ने भी चौंक कर सिर उठाया और हवा सूँघने लगा।

क्रिस्टाबेल ने देखा, उस के आगे कुछ दूर पर एक आदमी धीरे-धीरे, चौकन्ना हो कर, बढ़ रहा है। एकाएक वह एक स्थान पर रुका और जमीन टटोल कर बैठ गया। फिर उसने जेब में से एक चकमक पत्थर का टुकड़ा निकाल कर थोड़ी-सी घास सुलगायी और उसे भूमि पर रख दिया।

भूमि पर से धुआँ उठने लगा। थोड़ी देर बाद थोड़ा-सा 'छर्र-छर्र—' हुआ, जैसे बारूद जली हो, और उस के क्षणभंगुर प्रकाश में क्रिस्टाबेल ने देखा, वह व्यक्ति मार्टिन का चिर-परिचित था। उस के मुख पर एक विचित्र आनन्दमिश्रित विजय का भाव था।

क्रिस्टाबेल ने धीरे से पुकारा, "साइमन!"

वह व्यक्ति चौंका। उसने जेब से पिस्तौल निकाला और पेड़ों के झुरमुट

की ओर बढ़ा। जब वह पास आ गया, तब फिर क्रिस्टाबेल बोली, "साइमन, मैं हूँ, क्रिस्टाबेल।"

उस व्यक्ति ने पिस्तौल छिपा लिया, और बोला, "तुम यहाँ कहाँ ?"

"और तुम ?"

"मैं कार्यवश आया था।"

"क्या कर रहे थे ?"

"ज़रा देर ठहरो, अभी जान जाओगी।" कह कर वह रुक कर चुपचाप भवन की ओर देखने लगा। क्रिस्टाबेल भी उधर देखती रही।

एकाएक क्रिस्टाबेल को प्रतीत हुआ, भूकम्प हो रहा है, उस के पैर लड़-खड़ाये, घोड़ा भी एकाएक हिनहिनाया, वातावरण में मानो एकाएक घोर दबाव-सा पड़ा—क्रिस्टाबेल ने आँखें बन्द कर लीं—

धड़ाक्—धम्म !

एकाएक बीसियों तोपों का-सा स्वर हुआ। क्रिस्टाबेल का सिर भन्ना गया, कान बहरे हो गये। एक मिनट तक वह कुछ कर नहीं सकी। फिर उच्च स्वर में बोली, "यह क्या है ?"

प्रश्न व्यर्थ था। धमाके से मार्टिन का विशाल भवन एकाएक भूतल से उड़ गया था—और उस के छिन्न-भिन्न अवशेष न-जाने कहाँ-कहाँ फैल गये थे। दो-चार टुकड़े उस झुरमट से कुछ ही दूर पर गिरे थे।

यही सब देख कर साइमन ने क्रिस्टाबेल को उत्तर नहीं दिया। बोला, "मैं तुम्हारी तलाश में था।"

"क्यों ?"

"एक पत्र है, मार्टिन का।"

"ऐं ? तुमने कैसे पाया ?"

"उसने किसी प्रहरी के हाथ भिजवाया था, वह मुझे दे गया।"

क्रिस्टाबेल ने प्रश्न-भरी दृष्टि से उस की ओर देखा, कुछ बोली नहीं। साइमन ने उस का अभिप्राय समझ कर कहा, "उसको प्राणदंड की आज्ञा हो गयी।"

क्रिस्टाबेल सिर झुका कर खड़ी रही। साइमन ने पत्र उस की ओर बढ़ाया। उसने ले लिया। साइमन ने दियासलाई जला कर प्रकाश किया, क्रिस्टाबेल पत्र पढ़ने लगी।

पत्र पढ़ कर जब उसने साइमन की ओर देखा, तब अभी तिरस्कार और विद्रूप का भाव उस की आँखों से गया नहीं था। उसने पूछा, "अच्छा, यह बताओ, यह प्रबन्ध तुमने कब किया था ?"

"यह प्रबन्ध मेरा नहीं, मार्टिन का था।"

"हैं ?"

"वह कूमिङ् तांग की गुप्तकार्यकारिणी का सदस्य था। उसने बन्दी होने से पहले मुझे कहा था कि इस पलीते में आग लगा जाऊँ। मैं कल भी आया था; पर कल यह गीला था, जला नहीं।"

क्रिस्टाबेल के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। वह बिजली-से ताड़ित लता की तरह ज़मीन पर पड़ गयी।

मिनट-भर बाद जब उसे होश आया, तब रोते स्वर में बोली, "तुमने पहले नहीं कहा ? अगर मैं जानती—कल तक भी जानती होती..."

इस के आगे उस का स्वर रोने के आवेग में अस्पष्ट हो गया।

साइमन ने हिचकिचाते हुए स्वर में कहा, "बहन, धैर्य धरो—"

क्रिस्टाबेल बिजली की तरह उठी और घोड़े की लगाम पेड़ से खोल कर सवार हो ली। साइमन ने पूछा, "कहाँ—कहाँ चली ?"

क्रिस्टाबेल ने कोई उत्तर नहीं दिया, हाथ का पत्र साइमन की ओर फेंक कर घोड़ा दौड़ाती हुई निकल गयी।

जब साइमन का विस्मय कुछ कम हुआ, तब वह फिर दियासलाई जला कर पत्र पढ़ने लगा—

'क्रिस्टाबेल, कल मुझे प्राणदंड हो जायेगा, इस लिए आज अन्तिम विदा ले रहा हूँ। हमारा विच्छेद तो उसी दिन हो गया था, जिस दिन तुम्हारा विश्वास उठ गया; किन्तु अभ्यासवश विदा माँग रहा हूँ।

'सुनो, क्रिस्टाबेल, जाते हुए एक बात कहे जाता हूँ। मैं कायर नहीं

हूँ, इस बात का विश्वास मैं तुम्हें उसी समय दिला सकता था; पर तुम विश्वास नहीं कर सकीं ! मुझे तुम से विश्वास की—सहज, स्वाभाविक, अटल विश्वास की—आशा थी । यह आशा प्रत्येक मनुष्य करता है । तुम वैसा विश्वास नहीं दे सकीं । अगर प्रत्येक बात में विश्वास का पात्र होने के लिए प्रमाण देना पड़े, अगर तुम्हारा प्रेम प्राप्त करने के लिए नित्य ही यह दिखाना पड़े कि मैं उस का पात्र हूँ, तो ऐसे प्रेम का क्या मूल्य है ? अगर तुम विश्वास-भर कर लेतीं !

'दो-एक दिन में मैं नहीं रहूँगा । तब तक-या उस के बाद—तुम्हें "प्रमाण" भी मिल जायँगे कि मैं कायर नहीं हूँ । इसी से कहता हूँ, अगर तुम अब किसी से प्रेम करो, तो ऐसा व्यक्ति चुनना, जिस का तुम अकारण विश्वास कर सको । एक कायर से इतनी ही शिक्षा ग्रहण कर लो !

'अब मेरे हृदय में शान्ति है । अपना हृदय टटोल कर देख लेना, उस में क्या है ।—मार्ट'

पत्र पढ़ चुकने पर साइमन ने एक लम्बी साँस ली और धीरे-धीरे एक ओर को चल दिया ।

८

"अरे, तुम सब को क्या हो गया है ? कहाँ पागलों की तरह भागे जा रहे हो ?"

"तुम्हें नहीं मालूम ? एक कायर को प्राणदंड मिल रहा है ।"

"मार्टिन को ? उस का फैसला हो गया ?"

"कल ही ।"

"क्या ? उसने कोई सफाई नहीं दी ?"

"नहीं । जब उस से पूछा गया, तब बोला, "मैं सैनिक हूँ । सैनिक स्वभावतः विश्वास का पात्र होता है । मैं सफ़ाई दे कर विश्वास मोल नहीं लेना चाहता । "

"इतनी अकड़ ? मालूम होता है, कायर के भी कुछ दिल है ।"

"अरे, अभी और सुनो ! जब दंड सुनाया गया, तब जजों ने उस क्रिस्टा-

वेल की तारीफ भी की। इन दोनों की शादी होनेवाली थी। तब मार्टिन बोला, 'हाँ, मेरी ओर से भी बधाई भिजवा दीजियेगा।' "

"फिर ?"

"फिर बोला, 'आपने मुझे कायर कहा है और प्राणदंड दिया है। प्रजा-तन्त्र के एक सैनिक की हैसियत से मैं दंड स्वीकार करता हूँ। पर एक प्रार्थना है कि दंड देते समय मुझे कायर की तरह पीठ में गोली न मारी जाय! मैं कायर नहीं हूँ!"

"फिर ?"

"जज ने पूछा, 'इस का सबूत ?' पर बेचारा सबूत क्या देता? चुप हो गया। जज ने बहुत सोच कर कहा, 'मैं विवश हूँ।' फिर कैदी को ले गये।"

भीड़ को चीरता हुआ एक घोड़ा आगे आ रहा था, इन दोनों व्यक्तियों के पीछे-पीछे चल रहा था। उस पर सवार एक स्त्री इस चेष्टा में थी कि मौका मिलने पर आगे निकल जाय। ये बातें सुन कर वह व्यथित, अर्ध-विक्षिप्त स्वर में बोली, "अरे, यह सब मैं सुन चुकी हूँ—फिर क्यों दुहराते हो? बताओ, दंड होने में कितनी देर है?"

दोनों व्यक्ति चुपचाप एक ओर हट गये और उस की ओर देखने लगे। उसने अपना प्रश्न दुहराया।

"पन्द्रह-बीस मिनट होंगे—"

"बस ?" कह कर क्रिस्टाबेल ने घोड़े को चाबुक मारा। चाबुक से अनभ्यस्त, थके-माँदे किन्तु अभिमानी, घोड़े ने सिर उठा कर फुँफकारा और फिर तिलमिला कर भीड़ को चीरता हुआ दौड़ने लगा। किस को धक्का लगता है, कौन गिरता है, अपने अपमान में वह सब भूल गया।

दोनों व्यक्तियों ने एक दूसरे की ओर देखकर कहा, "पूरी दानवी है!" और फिर आगे बढ़ने लगे।

९

उस चौक के आसपास तीनों ओर खचाखच भीड़ भरी हुई थी। चौथी ओर, दीवार की छाया में, एक शहतीर जमीन में गड़ा हुआ खड़ा था, जिस

के साथ सैनिक मार्टिन को बाँध रहे थे। उसे शहतीर के साथ सटा कर, मुँह दीवार की ओर करके खड़ा कर दिया गया था। मार्टिन चुपचाप निष्क्रिय हो कर देखता जाता था, मानो वह इस अभिनय का प्रधान पात्र न हो कर एक दर्शक मात्र हो।

भीड़ इस क्रिया को देखती जाती थी और आलोचना करती जाती थी, "कैसा मरियल-सा खड़ा है—जैसे अफीम खा ली हो !"

"अरे, कायर को हौसला थोड़े ही होता है ?"

"कल तो बड़ी शान से खड़ा था—जज को भी घुड़की देता था !"

"अरे, जब तक मौत सिर पर नहीं आती, तब तक गीदड़ भी घुड़कियाँ दिखाते हैं। पता तो तब चलता है, जब सामना होता है।"

भीड़ की आलोचना सदा बड़ी पैनी और विषाक्त होती है; पर मार्टिन पर उस का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। शायद इसी से आलोचना प्रखरतर होती जा रही थी।

थोड़ी ही देर में बाँधने की क्रिया पूरी हो गयी। सैनिक वहाँ से हट गये।

इस शहतीर से पचास कदम की दूरी पर सैनिकों की एक कतार खड़ी थी, और उन से कुछ हट कर एक सैनिक अफसर, जिस के आदेशानुसार सब काम हो रहा था। उसने एक बार चारों ओर देखा, भीड़ के एक अंश को पीछे हटने का इशारा किया, फिर सावधान हो कर सैनिक-पंक्ति को आदेश देने लगा।

उस के आदेशों से प्रेरित सैनिकों ने बन्दूकों के कुन्दे अपने कन्धों पर टेके, निशाने साधे और तैयार हो कर खड़े हो गये।

अफसर अपनी घड़ी की ओर देखने लगा।

एकाएक चौक से कुछ दूर पर, पक्की सड़क पर, घोड़े की टाप—सरपट दौड़ की टाप—सुन पड़ी।

किसी ने कहा, "वह कैदी का क्षमा-पत्र आ रहा होगा।"

तत्काल ही किसी ने फटकार दिया, "चुप रहो।"

भीड़ को चीरता हुआ एक घोड़ा निकला, और सवार स्त्री ने एकाएक

लगाम खींची। घोड़ा अफसर के बिलकुल पास आ कर रुका। स्त्री क्षण-भर मुग्धवत् देखती रही। भीड़ ने उस की ओर देखा और एक ही स्वर में —दबे स्वर में—बोली, "दानवी!"

अफसर ने घड़ी से आँख हटाते हुए कहा, "एम! (निशाना साधो!)"

क्रिस्टाबेल चौंकी और लड़खड़ाते हुए घोड़े पर से कूद कर अफसर की ओर दौड़ी।

अफसर ने दृढ़ स्वर में कहा—"फायर! (दागो!)"

लोगों की आँखें क्रिस्टाबेल से हट कर मार्टिन पर जा जमीं—

उस क्षणिक, गम्भीर, औत्सुक्यपूर्ण प्रकम्पित महाशान्ति में एक स्त्री-स्वर गूँज उठा, "उसे बचाओ—अकलंक! अकलंक!"

फिर एकाएक बारह बन्दूकों के नाद में वह स्वर डूब गया—क्रिस्टाबेल लड़खड़ाने लगी—सैनिक मार्टिन की ओर दौड़े—किसी ने कहा, "वह देखो!"

लोगों ने देखा, जिन रस्सियों में मार्टिन बाँधा गया था, वे टूट गयी थीं। मार्टिन दीवार की ओर पैर किये औंधे मुँह पड़ा था। भीड़ को एकाएक मानो खोयी हुई वाणी मिल गयी।

"यह कब हुआ?"

"उस की चीख सुन कर ही। मैं देख रहा था, वह चौंका, फिर झटका दे कर घूम गया।"

"मैंने भी देखा था। वह खुद भी चिल्लाया था—"

"क्या?"

" 'क्राइस्ट'!"

"नहीं, 'क्रिस्टाबेल'!"

"हाँ, हाँ, 'क्रिस्टाबेल' ही!"

सैनिकों ने जब आ कर मार्टिन के शव को उठाया, तब उन के मुँह पर आदर का भाव था। एक ने कहा, "यह देखो, सभी गोलियाँ छाती में लगी हैं।"

लोग मार्टिन के शव को देखने और उस की आलोचना करने में इतने लीन हो गये कि बेचारी क्रिस्टाबेल—हाथ में प्रजातन्त्र की मोहरवाला एक कागज़ लिये खड़ी क्रिस्टाबेल—की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। वह एक बड़ी लम्बी, बड़ी थकी हुई, बड़ी उत्सर्गपूर्ण-सी साँस ले कर गिरते-गिरते बोली, "अकलंक !"

सितम्बर, १९३१

एकाकी तारा

ऐसा भी सूर्यास्त कहाँ हुआ होगा...उस पहाड़ की आड़ में से सूर्य का थोड़ा-सा अंश दीख पड़ रहा है, और उस के ऊपर आकाश में, बहुत दूर तक फैली हुई एक लम्बी वारिदमाला लाल-लाल दीख रही है, मानो प्रकृति के बालों की लाल-लाल लटें...

या, जैसे सूर्य को फाँसी लटका दिया हो, और किसी अज्ञात कारण से फाँसी की रस्सी खून से रँगी गयी हो...प्रतीची की विशाल कोख भी तो मानो सूर्य को लील लिये जा रही हो...

सूर्यास्त हो गया है। पर वह स्त्री—या युवती—उसी प्रकार निश्चल खड़ी, स्थिर दृष्टि से पश्चिमी आकाश को देख रही है...आसपास के सुरम्य दृश्यों की ओर, सामने बहती हुई छोटी-सी पहाड़ी नदी के स्वच्छ अन्तर की ओर, सामनेवाले पहाड़ की तलहटी से आती हुई बीन की अत्यन्त कम्पित, क्षीण ध्वनि की ओर, उस का ध्यान नहीं जाता...वह अत्यन्त एकाग्र हो, समाधिस्थ हो, पश्चिम आकाश को देख रही है...मानो इसी पर उस का जीवन निर्भर करता है, मानो वह आकाश में बिखरे हुए रक्त को पी कर शक्ति प्राप्त करना चाहती है; किन्तु जीवन न पा कर विष ही पाती है, फिर भी छोड़ नहीं सकती, मूर्छित भी नहीं होती...

सान्ध्य आकाश में थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता...किन्तु जो अपने हृदयों में ही एक काल्पनिक संसार बसाये हुए उसे देखने आते हैं, जिन के अन्दर एक थिरकती हुई किन्तु अस्फुट प्रसन्नता होती है, या जो भीतर ही भीतर किसी गहरी वेदना से झुलस रहे होते हैं, उन की तीखी अनुभूतियाँ उस आकाश में अपने ऐसे अरमानों का प्रतिबिम्ब पा लेती हैं, उन के लिए संसार की सम्पूर्ण विभूतियाँ, कोमलतम भावनाएँ, उस में केन्द्रित हो जाती हैं—उस प्रदोषा के आकाश में...

वह देख रही है, और देखती जाती है...इस दृश्य को उसने सैकड़ों बार देखा है, उन दिनों भी जब उस में उस थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं था,

(उस के जीवन में भी ऐसे क्षण थे—वह जो आज समझती है कि उस पर काल का बोझ अनगिनत वर्षों से पड़ा हुआ है !) और उन दिनों भी, जब वह उस में संसार की समग्र व्यथा और वेदना का प्रतिबिम्ब देख पायी है...पर वेदना का चिन्तन भी मदिरा की तरह होता है, ज्यों-ज्यों उन्माद बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उस की लालसा तीखी होती जाती है...

वह उस उन्माद के पथ पर बहुत दूर अग्रसर हो गयी है। एक परदा उस की आँखों के आगे छा गया है, और एक सूर्यास्त के छायापट के आगे। पर इन तीनों पटों की आड़ से भी उस की तीव्र दृष्टि आकारों को भेदती हुई चली जा रही है, देख रही है, पढ़ रही है, जीवन के नग्न सत्यों को...

इस भीषण शिक्षा से चौंक कर, कभी-कभी उस की दृष्टि एक दूसरी ओर फिरती है—उस के हाथ की ओर, जिस में वह एक छोटा-सा पुरजा थामे हुए है। वह पढ़ना नहीं जानती, पर आह ! कितनी तीव्र वेदना से, कितनी मर्मभेदी उत्कंठा से, वह उस पुरजे पर लिखी हुई दो-चार सतरों को देखती है; मानो उस के नेत्रों की ज्वाला से ही पत्र का आशय जगमगा कर हृदय में समा जायगा...

वह पढ़ना नहीं जानती, पर पत्र में क्या लिखा है, वह पढ़वा कर सुन आयी है...'भाई की तारीख परसों की लगी है—रात के नौ बजे....' बस, इतना ही तो लिखा है।

आज ही तो वह परसों है—आज ही तो रात को वह नौ बजेंगे...

और फिर वह पहले की भाँति, सूर्यास्त से वही शिक्षा ग्रहण करने लग जाती है...

वह है कौन ?

अपना नाम वह स्वयं नहीं जानती। जब वह बहुत छोटी थी, तब शायद उस के माता-पिता ने उस का कोई नाम रखा था। पर जब से वह अनाथिनी हुई, जब से वह अपने भाई के साथ घर से निकल कर भीख माँगने लगी, जब एक दिन उस के भाई ने उसे शक्कर के नाम से नमक की एक फाँकी खिला दी, और उस की मुखाकृति देख हँस-हँस कर उसे चिढ़ाने लगा, 'लूनी ! लूनी !'

तब से वह अपना नाम लूनी ही जानती है...

न-जाने कैसे वे भीख माँगते-माँगते शहरों में पहुँच गये थे; पर पहाड़ों और जंगलों में रहनेवाले वे उन्मुक्त प्राणी वहाँ के वातावरण को नहीं सह सके, कुछ ही दिनों बाद भाई-बहन दोनों फिर पहाड़ों में लौट आये और गूजरों के यहाँ चरवाहे बन कर रोटी का गुज़ारा करने लगे...लूनी दिन-भर ढोर चराया करती, और उस का भाई एक चट्टान पर बैठ कर गाया करता—या कभी-कभी कुछ पढ़ा करता...लूनी नहीं जानती कि वह पढ़ना कब और कहाँ सीख गया, कैसे सीख गया।

कभी-कभी वह सुबह नींद खुलने पर देखती, उस के भाई का पता नहीं है—वह दो-तीन दिन तक गायब रहता, फिर कुछ नयी किताबें ले कर लौट आता। पहली बार जब वह लापता हुआ तब लूनी कितनी घबरा गयी थी—पागल हो गयी थी...इतनी कि जब वह लौट कर आया, तब उसे उलाहना भी न दे पायी, उसे लज्जित-सा देख कर उस से चिपट गयी थी और खूब रोयी थी...

अब वह भाई लौट कर नहीं आयेगा—अब उस से चिपट कर रोने का भी सौभाग्य लूनी को नहीं प्राप्त होगा...

उस के बाद, कितने दिन बीत गये थे! लूनी का भाई उसे अधिकाधिक प्रेम करता जाता था—पर साथ-ही-साथ दूर भी हटता जा रहा था। क्योंकि उस में वह स्वयंभूति का भाव कम होता जा रहा था, और उस में एक गम्भीर, विचारवान्, सचेष्ट स्निग्धता आती जा रही थी। लूनी उसे समझती थी और नहीं समझती थी, उस का स्वागत करती थी और उससे खीझती थी...

दूर हटते-हटते एक दिन वह भाई उस के पास से बिल्कुल ही चला गया—दिनों के लिए नहीं, बरसों के लिए...

जब वह लौट कर आया, तब लूनी नहीं रही थी, या स्मृति भर रह गयी थी। वह एक सम्पन्न गूजर के घर बैठ गयी थी। वह उस की विवाहिता भी नहीं थी, उस की रखैल भी नहीं थी। लूनी ने अपने-आप को मानो उसे दान कर दिया था, उसे अपना दान दे कर विदा कर दिया था और स्वयं अकेली रह गयी थी! कभी-कभी जब वह स्वयं अपनी परिस्थिति पर विचार करती,

तब उसे जान पड़ता, उस के दो शरीर हैं, जो एक दूसरे के ऊपर खड़े हैं। एक में उस की सम्पूर्ण आत्मा, उस का अपनापन, बसा हुआ है और लूनी के भाई की आराधना में लीन है; और दूसरा, निचला, केवल एक लाश भर है। कभी-कभी दुरुपयोग से या शारीरिक अत्याचारों से पीड़ित हो कर यह लाश ऊपर की आत्मा के पास फरियाद करती थी, तो उस में एक क्षीण व्यथा-सी जागती थी, अन्य कोई उत्तर नहीं मिलता था...जैसे कोई दान दी हुई गाय का कष्ट देख कर यही सोच कर रह जाता है कि अब मुझे इस का कष्ट निवारण करने का अधिकार नहीं रहा !

जब वह भाई लौट कर आया, तब लूनी उसे अपने पास ठहरा तो क्या, उस के सामने भी नहीं हो सकी ! वह चुपचाप चला गया—परिस्थिति देख कर वह लूनी की मनःस्थिति भी समझ गया था। दूसरे दिन जब लूनी अवसर पा कर अपने पुराने आसन पर—उसी चट्टान पर, जहाँ वह आज बैठी है—गयी, तब उस का भाई वहाँ बैठा उस की प्रतीक्षा कर रहा था। लूनी के हृदय के किसी अज्ञात कोने में यह भाव जाग्रत हुआ कि अब भी कोई उसे समझता है, और इसी भाव से स्तिमित हो कर उसने अपना सिर भाई की गोद में रख दिया, रो भी नहीं पायी, पड़ी रह गयी...भाई ने भी उसे पुकारा नहीं, थोड़ी देर चुप रह कर फिर धीरे-धीरे गाने लग गया। उस गाने का प्रवाह अर्थ के बोझ से मुक्त था, इस लिए वह लूनी के सारे मनोमालिन्य को बहा ले गया... जब उसने पुनः जाग्रत हो कर अपनी कथा कह देने को सिर उठाया, तब कथा कहने की आवश्यकता ही नहीं रही थी ! उस का भाई ही न जाने क्या-क्या अनोखे विचार उसे सुना गया था जो उसने समझे नहीं, जो उसे याद भी नहीं रहे, किन्तु जिनकी छाया उस की स्मृति के परदे के पीछे सदा नाचती रही है...

आज वह चट्टान पर बैठी यही सब सोच रही है, और सूर्यास्त के छायापट से परे देख रही है...

क्या देख रही है ? उसी भाई की आज तारीख पड़ी है, उसी भाई को रात के नौ बजे फाँसी मिलेगी !

अँधेरा हो गया है। तलहटी में, चीड़ के वृक्षों के झुरमट में छिपे हुए छोटे-

से गाँव में, कहीं आठ लड़के हैं। प्रशान्त वातावरण में, इतनी दूर का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है...लूनी के सामने, पहाड़ की चोटी के पास, सान्ध्यतारा अकेला जगमगा रहा है। ज्यों-ज्यों आकाश में इधर-उधर तारे प्रकट होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों यह भी अधिकाधिक प्रोज्ज्वल होता जा रहा है, मानो अपने एकछत्र राजत्त्व में विघ्न होते देख कर उत्तेजित हो रहा हो...और लूनी जिस एक घटना पर चिन्तन करने आयी है, उसे सोच नहीं पाती; उस का मन निरन्तर उस से अन्य विषयों की ओर झुकता है, और उन्हीं पर जमने का प्रयत्न करता है...वह तारों की प्रतिस्पर्धा को देख कर उसी में अपने को भुला रही है--भुलाने का यत्न कर रही है...

उस का जीवन भी एक अनन्त प्रतिस्पर्धा ही रहा है--एक प्रतियोगिता, जिस में वह अकेली ही रही है...और वह सान्ध्यतारे को देख कर सोच रही है कि इस संसार में भी मैं कितनी सुखी रही हूं! प्रकृति में लड़ाई ही लड़ाई, संहार ही संहार है; किन्तु वह कितना निर्मल है--उस पर कैसी विराट् नैसर्गिक भव्यता छायी हुई है, जिस के सौन्दर्य में हम सुखी हो सकते हैं...मैं अपने इस संसार में सुखी थी--इस छोटे-से संसार में, जो कि उसी साम्राज्य का एक अंश है, जिस के विरुद्ध मेरा भाई लड़ता है, जिस के विनाश पर वह तुला हुआ है...वह क्यों लड़ता है? क्यों सुखी नहीं हो सकता? इस में उस का दोष है या राज्य का? यह उस की प्रकृति का विकार है या राजत्व में अन्तर्हित कोई प्रगूढ़ न्यूनता? यदि लोगों की आत्माएँ अपने को सौन्दर्य से घिरा पाकर भी सुखी नहीं होतीं, केवल इस लिये कि उन के शरीर पर एक अपर शक्ति का बन्धन--राज्य--है, तो यह उन की कमी है या उन के ऊपर के राजत्व की?

यह आकाश के असंख्य तारों की जो टिमटिमाहट है, यह क्या अपने अस्तित्त्व का उन्मत्त उल्लास है, या विद्रोह की जलन?

शायद दोनों!

लूनी को याद आया, यहीं एक दिन उस के भाई ने कहा था...उसकी स्मृति के पीछे जिन वचनों की छाया चिरकाल से नाच रही थी, जिन शब्दों का

अभिप्राय वह अभी तक नहीं समझ पायी थी, वे एकाएक सामने आ गये, उस की समझ में समा गये...'सुख या दुःख ऐसे नहीं होते। राज्य—बाह्य नियन्त्रण—सुख भी नहीं देता, दुःख भी नहीं देता। इन दोनों का उद्भव मनुष्य के भीतर छिपी किन्हीं आन्तरिक शक्तियों से होता है। राज्य तो केवल एक शक्ति का ज्ञान देता है, एक भावना को जगाता है, एक उत्तरदायित्व की संज्ञा को चेता देता है...फिर वह दायित्व राज्य के संघटन में पूर्ण होता है, या उस के विरोध में, इस का निर्णय करनेवाली परिस्थितियाँ राज्य के नियन्त्रण में न कभी आयी हैं, न कभी आयेंगी...मुझ में, हम में वह दायित्त्व जागा है, पर उसे चुकाने के लिए हमारे पास साधन नहीं, उस के पोषण के लिए सामग्री नहीं, इस लिए हम दुखी और अशान्त हैं, इसी लिए लड़ते हैं और लड़ना चाहते हैं...'

ये निर्णय करने वाली शक्तियाँ क्या हैं? क्या उस के हृदय में स्वार्थ था, जिस के लिए वह लड़ा? जिस के लिए वह आज प्राणदंड का भागी हुआ?

ऐसे खिंचाव के समय इस घोर एकान्त ने लूनी को उद्भ्रान्त कर दिया था—या शायद उस की सूक्ष्म-बुद्धि को और भी पैना कर दिया था। सूर्यास्त के पट पर उसने देखा, उस के भाई के कार्यों का एक प्रमुख कारण वह स्वयं थी। उस के भाई के आदर्शों का एक स्रोत उस के लिए सुख-कामना थी! क्यों? क्या वह ऐसे विद्रोह द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती थी—प्राप्त कर सकती थी? क्या भाई को खो कर उसे सुख मिलेगा? नहीं, पर उस के भाई ने जो-कुछ देखा, वह उस के दृष्टिकोण से नहीं, अपने दृष्टिकोण से देखा—या शायद देखा ही नहीं, केवल एक चिरन्तन सहजबोध के कारण अनुभव किया, ऐसे सहज-बोध के कारण, जो उस की वसीयत में प्राचीन काल से था—उस समय से, जब कि पृथ्वी पर मानव-जाति का अस्तित्त्व ही नहीं था, उस के पुरखा बन-मानुषों का भी नहीं, जब विवाह में जाति और वर्ण-विभेद नहीं थे, जब 'पति-पत्नी' और 'भाई-बहिन' एक ही स्वरक्षात्मक आर्थिक क्रिया की दो कलाएँ थीं...

लूनी ने भी यह सब अपनी बुद्धि से नहीं, एक सहज चेतना से ही अनुभव किया, और यह अनुभव उस के बौद्धिक क्षेत्र में नहीं आ पाया, उस की बुद्धि

केवल एक ही निरर्थक-सी बात कह कर रह गयी—'वह विद्रोही है...' कुछ-एक दिनों के बौद्धिक शासन के इस निर्णय के आगे उस की चिरन्तन अराजकता से उत्पन्न वह पहली अनुभूति व्यक्त न हो पायी...

'वह विद्रोही है, और कुछ काल में वह मूर्त्तिमान विद्रोह हो कर मर जायगा...'

लूनी अपनी थकी हुई, झुकी हुई गर्दन उठा कर आकाश की ओर देखने लगी। उस की प्रगाढ़ नीलिमा को बाँधने वाली आकाशगंगा का धुँधलापन भी चमक रहा था...यह आकाशगंगा है, या प्रकृति के उत्तम आँसू-भरे हृदय की भाप, या विश्वपुरुष के गले में फाँसी...

रात! तारे—तारे—तारे! लूनी के मन में एक विचार उठा, मैं इन्हें देख रही हूँ, वह भी एक बार तो इन्हें देख ही लेगा और पहाड़ों की याद कर लेगा...तारे क्षण-भर झपक लेंगे; जब जागेंगे, तब मैं इन्हें अपलक ही देख रही हूँगी, पर वह—?

एक हल्की- सी चीख़, या गहरी-सी साँस...

लूनी के मन की दशा इस समय ऐसी विकृत हो रही थी कि इस अशान्ति-मय विचार के बीच ही में उसे अपनी छोटी-सी लड़की—नहीं, उस सम्पन्न गूजर और लूनी की लाश की सन्तान—की याद आ गयी, और साथ ही उस के पिता की...वे शायद इस समय लूनी को खोज रहे होंगे। बेटी अनुभव कर रही होगी, आज मुझे वह पागल प्यार देनेवाली कहाँ है? और पिता सोच रहा होगा, उस का दिमाग कुछ खराब हो रहा है, वक्त-बे-वक्त जंगलों में फिरती है! जब लूनी वापस पहुँचेगी—पर लूनी तो यहीं रहेगी, वापस तो उस की लोथ ही जायगी! —तब पिता उस की विवशता पर अपनी भूख मिटायेगा, और बेटी अपनी विवशता के कारण भूखी रह जायगी! और—और वह जिस के लिए लूनी आज इस चट्टान पर बैठी है, वह मर जायगा!

लूनी फिर सान्ध्यतारे की ओर देखने लगी। फिर उस का मन भागा—वर्त्तमान के विचार से दूर, भूत-काल की ओर! उस दिन की ओर, जब वह शहर में भीख माँगते-माँगते उकता कर, शहर के अन्तिक प्रदेश में आकर

किसी साल के या युकलिप्टस के वृक्ष के नीचे आ पड़ते, और पेड़ की पत्तियों में अपने परिचित वनों की सृष्टि किया करते...उस दिन की ओर, जब वे एका-एक, मूक संकेत में ही एक दूसरे के हृदय की प्यास को समझ कर, एक दूसरे का हाथ थामे शहर से निकल पड़े अपने पहाड़ों के पथ पर...उस दिन की ओर, जब न-जाने कहाँ से पकड़ कर उस का भाई एक सुन्दर जल-मुरगाबी लाया, और लूनी का करुण अनुरोध, 'इसे छोड़ दो!' सुन कर क्षण-भर विस्मित रह गया, और फिर उसे उड़ा कर धीरे-धीरे हँसने लगा...उस दिन की ओर, जब न-जाने कैसे दोनों को एकाएक अपने पुरुषत्त्व और स्त्रीत्व का ज्ञान हुआ, दोनों अपने-अपने अकेलेपन का अनुभव करके जोर से चिपट कर गले मिले और फिर लज्जित-से हो कर अलग हो गये...उस दिन की ओर, जब भाई ने आ कर उल्लास-भरे स्वर में कहा, "देख लूनी मैं गीत लिख कर लाया हूँ!' और उस के विस्मित प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही गाने लगा...उस दिन की ओर, जब उसने कहा, 'लूनी, अब मैं बहुत कुछ पढ़ गया हूँ, अब मैं तुम्हें सुखी करने के लिए लड़ूँगा' और रात में लापता हो गया...इस के बरसों बाद के उस दिन की ओर, जब उस के 'पति' ने उसे एक पत्र ला कर दिया और उपेक्षा से पूछा, 'तेरा कोई भाई भी है? उसी का है!' और उस के पूछने पर कि पत्र में क्या है, इतना-भर बता दिया कि वह आयेगा...उस दिन की लज्जा और ग्लानि की ओर, जिस दिन वह अपने भाई के सामने न हो सकी, और वह बाहर ही से लौट कर चला गया...उस दिन की ओर, जब वह चट्टान पर उस की गोद में सिर रख कर बरसों से जोड़ा हुआ कलुष धो आयी...उस दिन की ओर, जब वह फिर बिदा ले कर चला गया, लूनी को सुखी करने के लिए...उस भयंकर दिन की ओर, जिस में लूनी से किसी ने कहा कि उस का भाई पकड़ा गया है और यह नहीं बता सका कि कहाँ और किस जुर्म में...उस दिन की ओर, जब उस का घोर अनिश्चय दूर करने को समाचार आया यह कि भाई को प्राण-दंड की आज्ञा हुई है...उस दिन की ओर, जब उसे भाई का अपने हाथों लिखा पत्र आया, जिसे उसने कई बार पढ़ा कर सुना, और कंठस्थ कर के भी पूरा नहीं समझ पायी...और अन्त में, वामन अवतार के पग की तरह, सम्पूर्ण सृष्टि को

रौंद कर वह लौट आया, टिक गया उस के हृदय के कोमलतम अंश पर, जहाँ उसने भाई के जीवन की स्मृति को छिपा रखा था—उसी जीवन को, जो अभी थोड़ी देर में नष्ट हो जायगा और अपनी स्मृतियों को बिखेर जायगा, जिस का स्थान शीघ्र ही अनझरे आँसू ले लेंगे...

लूनी की दृष्टि एक बार चारों ओर घूम कर लूनी के आसपास बिखरी हुई विभिन्न फूलों की रूपराशि और गन्ध को, नदी पर थिरकते हुए धुँधले से आलोक को, तलहटी के चीड़ वृक्षों से उठती हुई अज्ञात साँसों को, सामने के पहाड़ पर काँपती हुई बीन की तान को और पहाड़ की स्निग्ध श्यामता को पी गयी; फिर एक अव्यक्त प्रश्न से भरी हुई वह दृष्टि उठी सान्ध्यतारे की ओर, और फिर आकाश की शून्य विशालता की ओर...उस का वह अव्यक्त प्रश्न एक थरथराती हुई प्रतीक्षा-सा बन गया...

आकाश में दो बड़े-बड़े सफेद आकार चले जा रहे थे—शायद बगुले...पर इन के पंख कितने बड़े-बड़े जान पड़ते हैं—जैसे सारस के हों...

और उन की गति कितनी प्रशान्त...मानो मृत्यु की तरह, मानो जीवन के अवसान की तरह, निःशब्द...

नीचे गाँव में से कहीं घंटा खड़कने की ध्वनि आयी...लूनी तन कर बैठ गयी; उस की ऐन्द्रयिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, किन्तु साथ ही उस के आगे, लूनी के शरीर भर में, अँधेरा भर गया...

तलहटी में कहीं चौंक कर फटी हुई वेदना के स्वर में टिटिहरी रोयी, 'चीन्हूँ! चीन्हूँ!' मानो अपने घोंसले पर काँपती हुई अज्ञात छाया को देख कर, एकाएक भयभीत वात्सल्य और स्वरक्षात्मक साहस से भर कर तड़प उठी हो और उस छाया को ललकार रही हो...

लूनी का शरीर, उस की आत्मा, शिथिल हो कर झुक गयी...उसे जान पड़ा, एक निराकार छाया उस के पास खड़ी है और उसे स्पर्श कर रही है—उसे जान पड़ा, वहाँ कुछ नहीं है, वह अकेली हो गयी है, लुट गयी है, क्वारी ही विधवा हो गयी है...

उसने देखा, शून्य में आकाशगंगा—विश्वपुरुष के गले की फाँसी—को छूता हुआ वृश्चिक का डंक ही उस का एक मात्र सहचर रह गया है—दक्षिण के आकाश में जिधर देवताओं का लोक है...

अक्तूबर, १९३३

शत्रु

ज्ञान को एक रात सोते समय भगवान् ने स्वप्न में दर्शन दिये और कहा, "ज्ञान, मैंने तुम्हें अपना प्रतिनिधि बना कर संसार में भेजा है। उठो, संसार का पुनर्निर्माण करो।"

ज्ञान जाग पड़ा। उसने देखा, संसार अन्धकार में पड़ा है, और मानव-जाति उस अन्धकार में पथ-भ्रष्ट हो कर विनाश की ओर बढ़ती चली जा रही है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है, तो उसे मानव-जाति को पथ पर लाना होगा, अन्धकार से बाहर खींचना होगा, उस का नेता बन कर उस के शत्रु से युद्ध करना होगा।

और वह जा कर चौराहे पर खड़ा हो गया और सब को सुना कर कहने लगा, "मैं मसीह हूँ, पैगम्बर हूँ, भगवान् का प्रतिनिधि हूँ। मेरे पास तुम्हारे उद्धार के लिए एक सन्देश है।"

लेकिन किसी ने उस की बात नहीं सुनी। कुछ उस की ओर देख कर हँस पड़ते, कुछ कहते, पागल है; अधिकांश कहते, यह हमारे धर्म के विरुद्ध शिक्षा देता है, नास्तिक है, इसे मारो! और बच्चे उसे पत्थर मारा करते।

आखिर तंग आ कर वह एक अँधेरी गली में छिप कर बैठ गया, और सोचने लगा। उसने निश्चय किया कि मानव-जाति का सब से बड़ा शत्रु है धर्म, उसी से लड़ना होगा।

तभी पास कहीं से उसने स्त्री के करुण क्रन्दन की आवाज़ सुनी। उसने देखा, एक स्त्री भूमि पर लेटी है, उस के पास एक बहुत छोटा-सा बच्चा पड़ा है, जो या तो बेहोश है, या मर चुका है, क्योंकि उस के शरीर में किसी प्रकार की गति नहीं है।

ज्ञान ने पूछा, "बहन, क्यों रोती हो?"

उस स्त्री ने कहा, "मैंने एक विधर्मी से विवाह किया था। जब लोगों को इस का पता चला, तब उन्होंने उसे मार डाला और मुझे निकाल दिया। मेरा बच्चा भी भूख से मर रहा है।"

ज्ञान का निश्चय और दृढ़ हो गया। उसने कहा, "तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" और उसे अपने साथ ले गया।

ज्ञान ने धर्म के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। उसने कहा, "धर्म झूठा बन्धन है। परमात्मा एक है, अबाध है और धर्म से परे है। धर्म हमें सीमा में रखता है, रोकता है, परमात्मा से अलग करता है, अतः हमारा शत्रु है।"

लेकिन किसी ने कहा, "जो व्यक्ति परायी और बहिष्कृता औरत को अपने पास रखता है, उस की बात हम क्यों सुनें? वह समाज से पतित है, नीच है।"

तब लोगों ने उसे समाज-च्युत कर के बाहर निकाल दिया।

ज्ञान ने देखा कि धर्म से लड़ने के पहले समाज से लड़ना है। जब तक समाज पर विजय नहीं मिलती, तब तक धर्म का खंडन नहीं हो सकता।

तब वह इसी प्रकार का प्रचार करने लगा। वह कहने लगा, "ये धर्म-ध्वजी, ये पोंगे-पुरोहित-मुल्ला, ये कौन हैं? इन्हें क्या अधिकार है हमारे जीवन को बाँध रखने का? आओ, हम इन्हें दूर कर दें, एक स्वतन्त्र समाज की रचना करें, ताकि हम उन्नति के पथ पर बढ़ सकें।"

तब एक दिन विदेशी सरकार के दो सिपाही आ कर उसे पकड़ ले गये, क्योंकि वह वर्गों में परस्पर विरोध जगा रहा था।

ज्ञान जब जेल काट कर बाहर निकला, तब उस की छाती में इन विदेशियों के प्रति विद्रोह धधक रहा था। यही तो हमारी क्षुद्रताओं को स्थायी बनाये रखते हैं, और उस से लाभ उठाते हैं! पहले अपने को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त करना होगा, तब समाज को तोड़ना होगा, तब...

और वह गुप्त रूप से विदेशियों के विरुद्ध लड़ाई का आयोजन करने लगा।

एक दिन उस के पास एक विदेशी आदमी आया। वह मैले-कुचैले, फटे-पुराने, खाकी कपड़े पहने हुए था। मुख पर झुर्रियाँ पड़ी थीं, आँखों में एक तीखा दर्द था। उस ने ज्ञान से कहा, "आप मुझे कुछ काम दें, ताकि म अपनी रोज़ी कमा सकू"। मैं विदेशी हूँ, आप के देश में भूखा मर रहा हूँ। कोई भी काम आप मुझे दें, मैं करूँगा। आप परीक्षा लें। मेरे पास रोटी का टुकड़ा भी नहीं है।"

ज्ञान ने खिन्न हो कर कहा, "मेरी दशा तुम से कुछ अच्छी नहीं है, मैं भी भूखा हूँ।"

वह विदेशी एकाएक पिघल-सा गया। बोला, "अच्छा! मैं आप के दुःख से बहुत दुखी हूँ। मुझे अपना भाई समझें। यदि आपस में सहानुभूति हो, तो भूखे मरना मामूली बात है। परमात्मा आप की रक्षा करे। मैं आप के लिए कुछ कर सकता हूँ?"

ज्ञान ने देखा कि देशी-विदेशी का प्रश्न तब उठता है, जब पेट भरा हो। सब से पहला शत्रु तो यह भूख ही है। पहले भूख को जीतना होगा, तभी आगे कुछ सोचा जा सकेगा...

और उसने 'भूख के लड़ाकों' का एक दल बनाना शुरू किया, जिस का उद्देश्य था अमीरों से धन छीन कर सब में समान रूप से वितरण करना, भूखों को रोटी देना, इत्यादि; लेकिन जब धनिकों को इस बात का पता चला, तब उन्होंने एक दिन चुपचाप अपने चरों द्वारा उसे पकड़ मँगाया और एक पहाड़ी किले में कैद कर दिया। वहाँ एकान्त में उसे सताने के लिए नित्य एक मुट्ठी चबैना और एक लोटा पानी दे देते, बस।

धीरे-धीरे ज्ञान का हृदय ग्लानि से भरने लगा। जीवन उसे बोझ जान पड़ने लगा। निरन्तर यह भाव उस के भीतर जगा करता कि मैं, ज्ञान, पर-

मात्मा का प्रतिनिधि, इतना विवश हूँ कि पेट-भर रोटी का प्रबन्ध मेरे लिए असम्भव है ! यदि ऐसा है, तो कितना व्यर्थ है यह जीवन, कितना छूँछा, कितना बेमानी !

एक दिन वह किले की दीवार पर चढ़ गया । बाहर खाई में भरा हुआ पानी देखते-देखते उसे एकदम से विचार आया, और उसने निश्चय कर लिया कि वह उस में कूद कर प्राण खो देगा । परमात्मा के पास लौट कर प्रार्थना करेगा कि मुझे इस भार से मुक्त करो; मैं तुम्हारा प्रतिनिधि तो हूँ, लेकिन ऐसे संसार में मेरा स्थान नहीं है ।

वह स्थिर, मुग्ध दृष्टि से खाई के पानी में देखने लगा । वह कूदने को ही था कि एकाएक उसने देखा, पानी में उस का प्रतिबिम्ब झलक रहा है और मानो कह रहा है, "बस, अपने-आपसे लड़ चुके ?"

ज्ञान सहम कर रुक गया, फिर धीरे-धीरे दीवार पर से नीचे उतर आया और किले में चक्कर काटने लगा ।

और उसने जान लिया कि जीवन की सब से बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं ।

जून, १९३५

पगोडा वृक्ष

१

उस वृक्ष में पत्ते नहीं थे।

उस की यही विशेषता थी—विधवा के हृदय की तरह उस में विस्फोट धीरे-धीरे वृद्धिगत नहीं होता था, उस के लिए वसन्त की वासना के कोमल अंकुर नहीं फूटते थे, न बाल-लीलामयी मधुर झकोरें आती थीं, न नवयौवन के चिकने पत्ते ही निकल पाते थे...केवल वर्ष में एक बार किसी उमस-भरे दिन की वेदना में, प्रगल्भ यौवन के उन्मद सौरभ से भरे, हल्के पीले हृदय वाले श्वेत तारक-फूल, एकाएक ही उस के सर्वांग पर छा जाते थे—उस की नंगी वीभत्स शाखें एकाएक ही अदृश्य हो जाती थीं...

जीवन ! वे मानों प्रौढ़ावस्था के फूल ! वसन्त में, जब और सब वृक्ष फूल रहे होते, तब उस में केवल आगे से चपटे बड़े-बड़े कठोर पत्ते पकते हुए दीखते—मानो सजीले सामन्तों की पाँत में एक बूढ़ा शूद्र-पुत्र...और ग्रीष्म में मरुस्थल की लपलपाती गर्म साँस से बचने के लिए सब पेड़ सजाव-सिंगार छोड़ कर एक मोटी हरी चादर ओढ़ चुके होते, तब उस के पके पत्ते एक-एक कर के झर जाते, मानों नंगी निरीह शाखों ने पल्ला झाड़ कर मरुभूमि के दस्यु को दिखा दिया हो कि हम निःस्व हैं...केवल जब वर्षा के दौंगरे आकाश के कसैले रोष को शान्त कर देते थे, तब वृक्ष की चिरसंचित आत्मग्लानि द्रवित हो कर फूट पड़ती थी—विराट् वेदना सुन्दर ही होती है—और उस वृक्ष की वेदना पुष्पित हो उठती थी, और वह मानों अपने आन्तिरक सौन्दर्य के उन्मेष से लजा कर स्वयं उसमें छिप जाता था—या सौन्दर्य के आवरण में और नंगा हो जाता था...मानों किसी बुड्ढे ने संसार की तिरस्कार-भरी दृष्टि से लज्जित होकर अपने को यौवन के आवरण में लपेट लिया हो।

या किसी विधवा के हृदय में एकाएक प्रेम का पूर्ण विकास हो उठा हो...

अभी वह दिन नहीं आया था। वसन्त समाप्त हो चुका था, ग्रीष्म भी पार हो चुका था, पर उन्मेष का दिन नहीं आया था—वृक्ष के पत्ते गिर गये

थे, पर फूल नहीं आये थे ।

साँझ हो रही थी । आकाश में बादल के छोटे-छोटे टुकड़े मँडरा रहे थे । उन में एक ओछा सौन्दर्य था, शक्तिहीन और दर्पहीन—वे बरस चुके थे । और वे मानों एक प्रकार के छिछोरेपन से जमुना के जल में, अपना रंगीन प्रतिबिम्ब देख कर मुस्करा रहे थे...

उस वृक्ष की नंगी शाखों-तले एक स्त्री बैठी हुई थी । वह एक स्थिर दृष्टि से बादलों की ओर देख रही थी, और शून्य भाव से एक पद की निरर्थक आवृत्ति किये जा रही थी—'प्रीतम इक सुमिरिनिया मोहि देहि जाहु ।' धीरे-धीरे अन्धकार होता जा रहा था, किन्तु उसे इस का बिल्कुल ध्यान नहीं था । वह मानों हमारे संसार से परे कहीं विचर रही थी, उसके लिए मानों हमारे काल की गति थी ही नहीं...

उस की सफेद धोती धुँधले प्रकाश में कुछ नीली-सी जान पड़ रही थी, और उस के मुख का वेदना-विकृत भाव भी एक फीकी मुस्कराहट का भ्रम उत्पन्न कर देता था । और, जिस मुद्रा में वह बैठी हुई थी, उस से किसी भी दर्शक के हृदय में मूर्तिमती प्रतीक्षा की भावना जाग्रत हो जाती, यद्यपि उस ने कई वर्षों से किसी की प्रतीक्षा नहीं की थी—प्रतीक्षा का विचार भी नहीं किया था—क्योंकि वह कई वर्षों से विधवा थी...

यह उस का नित्यक्रम था—नित्य ही सन्ध्या को वह अपने छोटे-से मकान—या झोंपड़े—के इस बागीचे में आ कर बैठ जाती थी और कभी-कभी घंटों बैठी रहती थी । जब वह इस प्रकार आत्मविस्मृत हो जाती, तब उसे अपनी दैनिक प्रार्थना का भी ध्यान नहीं रहता...तब तो किसी आकस्मिक शब्द से—किसी पशु के रँभाने से, या कभी वायु के झोंके से ही वह चौंक कर उठती थी और भीतर चली जाती थी...

आज भी यही दशा थी । उस के बैठे ही बैठे रात भी होने को आयी, जो बादल बिखरे हुए थे, वे नयी शक्ति पा कर पुनः आकाश में छा गये—धीरे-धीरे एक अत्यन्त कोमल, निःशब्दप्राय वर्षा भी होने लगी; पर उस का ध्यान भंग नहीं हुआ । जब वायु के एक झोंके ने उस की धोती के छोर को हिला कर

मानों कहा, 'उठो !' तब वह उस के गीलेपन से चौंकी, और एक बार मानों जाड़े से काँप कर, पेड़ के सहारे खड़ी हो गयी और जल्दी-जल्दी अपने झोंपड़े की ओर चल दी। वह वृक्ष मानों उत्सर्ग-भरी आवाज़ से बादलों से कहने लगा, 'भिगो लो तुम भी मेरी नग्नता को !'

२

वह विधवा थी---उस का नाम था सुखदा। जब से उस का विवाह हुआ, तब से ही वह उस झोंपड़े में रहती थी। उस के विवाह को आज बारह वर्ष हो चुके थे---जिन में से आठ उसने वैधव्य में काटे थे। विधवा हो जाने के बाद भी उसने वह घर नहीं छोड़ा---छोड़ कर कहीं जाने को स्थान ही नहीं था। वह समाज की ही नहीं, व्यक्तिमात्र की परित्यक्ता थी; समाज की शरण की ही नहीं, किसी व्यक्ति के स्नेह से भी वंचिता थी; उस का अपना कोई नहीं था। जिस झोंपड़े में वह रहती थी, उस की सफाई इत्यादि करने के लिए एक बुढ़िया नित्य सवेरे आती थी, और दो घंटे बाद चली जाती थी। सुखदा का संसार से कोई सम्बन्ध था तो इतना ही। वह अपना गुजारा कैसे करती थी, कोई नहीं जानता। स्त्रियाँ किस प्रकार गृहस्थी चलाती हैं, यह न आज तक किसी ने जाना है, न जानेगा। हमारे वैज्ञानिक तो कहते हैं कि स्वयं चालित यन्त्र असम्भाव्य है।

सुखदा का पति देहली में काम करता था। वह नित्य सबेरे ही झोंपड़े से चल पड़ता, और कुछ एक खेत पार कर के मेरठ से देहली जाने वाली सड़क को जमुना के पुल के पास ही पा लेता। उन दिनों सुखदा दूर से जमुना-पुल की ओर देख कर, उस पर रेंगते हुए चींटी-से आकारों को देखती हुई अपने पति को चीन्हने का प्रयत्न किया करती। और, इसी प्रकार जब उस के लौट कर आने का समय होता, तब भी वह पुल पर उसे खोजा करती।

इस का कारण था। पति की अनुपस्थिति में उसे कोई कष्ट या क्लेश होता हो, या वियोग की पीड़ा उस के लिए असह्य हो, यह बात नहीं थी। वर्ष-भर पति के साथ रह कर भी उसने इतनी घनिष्टता नहीं उत्पन्न की थी, जितनी कालेज के लड़के-लड़कियाँ सप्ताह भर में कर लेते हैं...उस का और उस

के पति का जीवन मानों दो अलग और समानान्तर दिशाओं में बह रहा था, और वे निकट नहीं आ पाते थे। इसी लिए, वह अपने पति के पतित्व का अनुभव एक खास दूरी पर करती थी—जब वह उस से निकट आता, तब वह सुखदा के लिए बिल्कुल अजनबी हो जाता। जब वह घर में होता, तब सुखदा के हृदय में उस के प्रति एक उद्वेग, एक प्रकार की झुंझलाहट के अतिरिक्त कोई भावना नहीं होती थी। जब वह दूर पुल पर होता, तब सुखदा अपने हृदय को यह समझाया करती थी कि 'वह तेरा पति है'। स्वच्छन्द, शीतल निरपेक्षता से जैसे कोई बच्चे को इशारे से चिड़िया दिखा कर बताये—'यह अबाबील है।'

उसे स्वयं कभी-कभी इस से अत्यन्त कष्ट होता था। पातिव्रत्य के जो संस्कार उसे मिले थे, वे उसे कभी-कभी अत्यन्त दुखी कर डालते थे। वह इस निरपेक्षता को दूर करने की चेष्टा भी करती थी; किन्तु इस में मुख्य अड़चन होता था स्वयं उस का पति। उस में भी ऐसी ही एक उपेक्षा थी—मानों किसी दिन उसे बैठे-बैठे विचार आया हो, 'मेरे घर में बहू नहीं है', और इस न्यूनता को पूरा करने के लिए उसने एक बहू झोंपड़े में ला रखी हो!

इसी प्रकार सुखदा के दाम्पत्य जीवन के चार वर्ष बीते। (ऐसे भी हैं, जिन का सारा जीवन यों ही बीतता है!) उस समय तक एक विराट् दुःखान्त नाटक के लिए पूरा उपक्रम हो चुका था। किन्तु मुख्यपात्र की अकाल-मृत्यु के कारण वह खेला नहीं जा सका। सुखदा अकेली रह गयी। ट्रेजेडी के अंकुर से भरा हुआ उस का जीवन केवल एक विषाद से भरा रह गया—एक विषाद जिस की नीरसता में एक हल्का किन्तु मधुर रस था...

जिस के आधार पर उसने आठ वर्ष बिता दिये थे। नित्य ही जब वह अपने छोटे-से स्वच्छ बागीचे में आ कर बैठती, तब मानों उसे इस रस का एक घूँट मिल जाता था। जिस वृक्ष के नीचे वह नित्य बैठती थी, वह उसके पति का लगाया हुआ था। वह इसे मद्रास से लाया था। यद्यपि सुखदा के इस वृक्ष-तले बैठने का कारण यह नहीं था, तथापि वह नित्य ही इस बात का स्मरण कर लिया करती थी। क्षण भर के लिये उसे यही विश्वास हो जाता था कि वह पति की स्मृति के लिए ही वहाँ बैठी है...इस विश्वास से उस के हृदय की पुरानी

अशान्ति, वह अनौचित्य की भावना, मिट जाती थी...

३

यदि दुःख की अनुपस्थिति को, अनुभूति की अचेतना को, सुख कह सकते हैं, तो सुखदा सुखी थी। यदि—! किन्तु वह स्वयं सोचा करती, क्या मेरे जीवन का उद्देश्य यही है ? उस वृक्ष-तले बैठ कर जब वह जमुना का कम्पित वक्ष देखती, तब उस के हृदय में सदा यही प्रश्न उठता, 'क्या हमारा जीवन बालू पर के मिटाये हुए चिन्ह से अधिक कुछ भी नहीं है ?' पर इस प्रश्न से उस की शान्ति नहीं भंग होती थी, यद्यपि विषाद कुछ गहरा हो जाता था। उस के हृदय से मानों अशान्ति की क्षमता नष्ट हो गयी थी—समुद्र मानों तूफान लाना भूल गया था...

वह जो नित्य नियमपूर्वक प्रार्थना किया करती थी, वह किसी आन्तरिक अशान्ति की प्रेरणा से नहीं, वह केवल एक नियम भर था—या उस से कुछ ही अधिक। कभी वह इस विषय पर सोचती थी, तो एक ही बात का निश्चय कर पाती थी—उसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास था—बस। वह अपनी आत्मा से पूछती कि वह प्रार्थना क्यों करती है, तो यही उत्तर मिलता था कि सब से सरल पथ यही है—कुछ लाभ हो या न हो, उस से क्या...किन्तु फिर भी अपने वैधव्य के आठ वर्षों में एक दिन भी उस का नियम भंग नहीं हुआ था—और वह कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि इस नियम का भंग कर दे...

आज जब वर्षा होने लगी और वह चौंक कर उठी, तब उसे याद आया कि वह अपनी प्रार्थना भी भूल गयी है, और वह दौड़ी हुई इस त्रुटि को पूरा करने गयी।

झोंपड़े में प्रवेश कर के उसने एक दीपक जलाया, और उसे झोपड़े के एक कोने में ले गयी। उसे एक छोटे-से आले में रख कर वह घुटने टेक कर बैठ गयी, उस की आँखें बन्द हो गयीं...और कुछ ही क्षण में वह इस संसार से परे कहीं पहुँच गयी...

एक अभूतपूर्व घटना घटी। किसी ने किवाड़ खटखटाये। सुखदा का ध्यान भंग हो गया, उसने चौंक कर कहा, "कौन ?"

कोई उत्तर नहीं आया, पर किवाड़ पहले से भी जोर से खटकाये जाने लगे।

सुखदा क्षण भर सोचती रही, खोलूँ या न खोलूँ ? इस असमय में कौन आया है ? एकाएक हिन्दू समाज के कानूनों का एक पुलिन्दा ही उस की आँखों के आगे से हो गया—समय, परिस्थिति, एकान्त, विधवा, और सब से बड़ी चीज़—हिन्दू धर्म की नाक—लज्जा...

उस के प्रश्न का बुद्धि ने कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु किसी अज्ञात प्रेरणा से उसने उठ कर किवाड़ खोल दिया, और गम्भीर स्वर में पूछा, "कौन है ?"

एक युवक ने आगे बढ़ कर धीमे स्वर में कहा, "मैं हूँ, बहिनजी ! आप को नमस्कार करता हूँ।"

सुखदा विस्मय में कुछ बोली नहीं। स्थिर भाव से उस के मुख की ओर देखती रही। मुख की ओर देखते ही देखते उसने बहुत-सी बातें देख लीं।

युवक के शरीर पर कपड़े अधिक नहीं थे; एक धोती, जो घुटनों तक बँधी हुई थी, गले में एक फटी कमीज़। हाथ में एक छोटी-सी पोटली-सी थी। सुखदा ने यह भी देखा कि युवक के शरीर पर के कपड़े वर्षा के नहीं, किसी अधिक गँदले पानी से भीगे हुए थे और हाथ की पोटली प्रायः सूखी थी...वस्त्रों से वह बिल्कुल साधारण गँवार मालूम होता था, किन्तु उस का मुख मानों किसी आवरण के भीतर से भी कह रहा था, मैं पढ़ा-लिखा हूँ, सभ्य हूँ, संस्कृत हूँ...

सुखदा को चुप देख कर युवक फिर बोला, "बहिन जी, मुझे यहाँ रात भर के लिए आश्रय मिल सकता है ?"

सुखदा सहसा उत्तर नहीं दे सकी। फिर उसने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा, "आप कौन हैं, मैं जानती भी नहीं।"

"मैं एक बिल्कुल साधारण व्यक्ति हूँ। कष्ट में होने के कारण रात भर के लिए आश्रय माँगता हूँ—इस से अधिक आप क्या जानना चाहती हैं ?"

"आप स्वयं समझ सकते हैं," फिर कुछ हिचकिचा कर, "मैं विधवा हूँ, और यहाँ अकेली रहती हूँ।"

युवक ने सहानुभूति के स्वर में कहा, "अच्छा ?" और चुप रह गया।

"आप और कहीं नहीं जा सकते ?"

युवक एक अत्यन्त सरल-सी हँसी हँस कर बोला, "नहीं।"

सुखदा को वह हँसी अच्छी नहीं लगी। वह उसे समझ नहीं सकी। उसने सन्देह के स्वर में पूछा, "क्यों ? आप आये कहाँ से हैं ?"

"जमुना पार से आया हूँ।"

"देहली से ?"

"जी हाँ।"

"तो यहाँ कैसे आये ? सड़क तो इधर नहीं आती। पुल के पास ही कहीं क्यों नहीं ठहरे ?"

"मैं पुल पर से नहीं आया।"

"तो ?"

"यहीं सामने—तैर कर आया हूँ।"

"हैं ? जमना तैर कर ? आज—अभी ?"

युवक फिर हँसकर चुप रह गया।

थोड़ी देर बाद सुखदा बोली, "आपने अपना जो परिचय दिया है, उस से मेरा सन्देह बढ़ना ही चाहिए।"

युवक का चेहरा उतर गया। वह बोला, "ठीक है।"

थोड़ी देर फिर दोनों चुपचाप एक दूसरे को देखते रहे। दोनों मानों एक दूसरे का माप ले रहे थे। फिर युवक ने मानों अन्दर ही अन्दर किसी निश्चय पर पहुँच कर कहा, "आप मुझे थोड़ी देर के लिए अन्दर आने दें, तो आप को सन्तोष हो जायगा।"

सुखदा कुछ कह भी नहीं पायी थी कि युवक भीतर चला आया। तब सुखदा भी धीरे-धीरे झोंपड़े के मध्य की ओर चली। एक ओर एक छोटी सी चौकी पड़ी थी, उसी की ओर इशारा कर के युवक से बोली, "बैठ जाइये।"

युवक क्षण भर खड़ा ही रहा, फिर बैठ गया। सुखदा उससे कुछ दूर पर खड़ी रही।

"आप क्या जानना चाहती हैं, जिस से आप को सन्तोष हो जाय ?"

सुखदा ने बिना किसी कौतूहल के कहा, "आप स्वयं ही कुछ बताना चाहते हैं, मैंने तो कुछ नहीं पूछा।"

युवक ने एक तीव्र दृष्टि से उस की ओर देखा, और बोला, "अच्छा, ऐसे ही सही। तो सुनिए। मैं दो-तीन साल से इसी प्रकार मारा-मारा फिरता हूँ। आम तौर पर तो अपना कुछ न कुछ प्रबन्ध रहता ही है, और काम चल जाता है। किन्तु कभी-कभी हमारी दशा बहुत बुरी हो जाती है—हमारे लिए इस विराट् ब्रिटिश साम्राज्य में कहीं पैर रखने को भी स्थान नहीं रहता ! तब हम इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, कि कहीं कुछ समय के लिए हमें आश्रय मिल जाय, और फिर हम अपना अस्तित्व मिटा कर, एक नया और मिथ्या रूप धारण कर के ही उस साम्राज्य में स्थान पाते हैं, जिस में हमारी सच्चाई के लिए स्थान नहीं है..."

सुखदा रोक कर कहने को हुई, "आप की बात मुझे तो कुछ भी समझ नहीं आयी।" किन्तु जब यह कहने के लिए उसने मुँह खोला, तब अपना प्रश्न सुन कर उसे स्वयं आश्चर्य हुआ—"आप खाना खा चुके हैं ?"

युवक ने मुस्करा कर कहा, "हाँ, कल शाम को तो खाया था।"

सुखदा झोंपड़े के एक सिरे के ताक की ओर जाती-जाती बोली, "तो अब तक क्यों नहीं बताया था ? इतना तो मैं कर ही सकती हूँ।"

उसने ताक में से कुछ रोटी, साग और केले निकाले, और फिर बोली, "साग जरा गर्म कर लाऊँ।" यह कह कर, बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए, वह झोंपड़े के पिछली ओर सटे हुए एक छोटे-से छप्पर के नीचे चली गयी।

युवक चौकी पर घुटने समेटे हुए बैठा था। जब उसने छप्पर की ओर से फूँकने की आवाज़ सुनी, तब उसने अपनी ठोड़ी को अपने घुटने पर टेक दिया और चुपचाप झोंपड़े में पड़ी वस्तुओं को देखने लगा।

एक कोने में, एक छोटे-से लकड़ी के बक्स पर, आठ-दस किताबें पड़ी थीं। युवक के मन में एक क्षीण कौतूहल हुआ कि उठ कर देखे क्या पुस्तकें हैं; पर

उस के शरीर पर एक सम्मोहनी थकान छायी हुई थी, वह नहीं उठा। बक्स से हट कर उस की आँखें दिये वाले आले की ओर पहुँची। उसने देखा, आले के ऊपर , एक लकड़ी के तख्ते पर, एक छोटी-सी धातु की प्रतिमा रखी है, जिस के कुछ अंश उस अप्रत्यक्ष प्रकाश में चमक रहे हैं। प्रतिमा के पैर शायद फूलों से ढके हुए थे। युवक के मन में प्रश्न हुआ कि किस की प्रतिमा है, किन्तु यह प्रश्न बिल्कुल बौद्धिक था, इस में स्वाभाविक कौतूहल नहीं था। उस की आँखें उस प्रतिमा से भी हट गयीं। वह छत की ओर देखने लगा। छत पर किसी चीज़ का एक छोटा-सा गोल प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। युवक ने ज़रा घूम कर देखा, वह एक छोटे शीशे से प्रतिबिम्बित हो रहा दिये का प्रकाश था। उसी शीशे के पास ही एक लकड़ी की कंघी पड़ी थी, और शीशे के कुछ ऊपर किसी गाढ़े रंग के गिलाफ में कोई वाद्य टँगा हुआ था। पास ही टँगी हुई गज से युवक ने अनुमान किया कि वह बेला या सारंगी होगी। उसे कुछ विस्मय हुआ। वह अब घुटनों पर सिर टेक कर सोचने लगा, इस छोटे-से झोंपड़े में इतनी संस्कृति !

छप्पर की ओर से साग के गर्म होने का 'छिम-छिम-छ-छ-छिम-छिम' स्वर आ रहा था। एक बहुत क्षीण प्रतीक्षा के, और अपने शरीर की थकान की बढ़ती हुई किन्तु अभी तक मधुर अनुभूति के साथ ही साथ युवक के मन में यह प्रश्न भी उठा कि क्या वह स्त्री गाती भी होगी...स्वर तो बड़ा मधुर है, और वेदना के सहवास ने उसे एक कम्पित निखार दे दिया है...

४

सुखदा जब रोटी ले कर झोंपड़े में आयी, तब पहले तो वह सीधी युवक के सामने चली आयी, किन्तु फिर एकाएक ठिठक गयी।

युवक उसी प्रकार, घुटनों पर सिर टेके, बिल्कुल निश्चल पड़ा था—उस की साँस बिल्कुल नियमित रूप से चल रही थी।

वह सो रहा था !

सुखदा थाली लिये खड़ी सोचने लगी, 'क्या करूँ ? इसे जगाऊँ या सोने दूँ ? वह सो भी रहा है या कुछ सोच ही रहा है ?' इस का निश्चय करने के लिए

उसने धीमे स्वर में कहा, "मैं बड़ी देर से थाली लिये खड़ी हूँ।"

कोई उत्तर नहीं मिला। सुखदा फिर असमंजस में पड़ गयी। उस की आँखें हठात् युवक के शरीर की आलोचना करने लगीं। युवक ने अपने पैरों पर अपनी पोटली रख ली थी, जिसे वह बायें हाथ से थामे हुए था। दाहिने हाथ से उसने बायें हाथ की कलाई पकड़ ली थी और इस प्रकार घिरे हुए अपने घुटनों पर सिर रखे बैठा था। उस की तनी हुई भुजाओं की पेशियाँ उभर रही थीं, किन्तु फिर भी ऐसा जान पड़ता था, वे भूखी हैं। फटी हुई कमीज़ में से कन्धे के नीचे का कुछ अंश दीख पड़ता था। पीठ यों झुकी हुई थी, मानों किसी दिक्पाल की पीठ हो...

देख-भाल कर सुखदा की दृष्टि फिर उसी पोटली पर जा पड़ी। इस में क्या है? अवश्य कोई मूल्यवान् वस्तु होगी, नहीं तो वह क्यों उसे हाथ में लिये रहता—क्यों सोते समय भी न छोड़ता? सुखदा उसे ध्यान से देखने लगी। उसे भास हुआ, उस में एक तो काला-सा चारखाने का कोट है और उस के अन्दर कुछ लिपटा हुआ है। क्या?

कहीं यह व्यक्ति चोर या हत्यारा तो नहीं है?

इसे जगा कर बाहर निकाल दिया जाय?

आश्रय दिया जाय?

रोटी-पानी?

धमकाने पर यदि वार कर बैठे?

पर इतना भोला क्यों मालूम होता है?

बाढ़ में जमुना तैर कर पार कर आया है?

कपड़े अभी तक गीले ही हैं!

फिर भी सो रहा है!

पागल है?

सुखदा ने धीरे से थाली ज़मीन पर रख दी और छप्पर की ओर लौट गयी। वहाँ से एक जलती हुई अँगीठी ले कर आयी और युवक के पास ही रख कर फिर खड़ी हो गयी। क्षण भर वह अनिश्चय में खड़ी रही, फिर उसने युवक के कन्धे

पर हाथ रख कर कहा, "उठिए।"

युवक नहीं उठा।

सुखदा ने उसे धीरे से हिलाया। युवक ने सोते ही सोते कहा, "क्या है, उमा?" और फिर चौंक कर जाग पड़ा। जागते ही कुछ लज्जित स्वर में बोला, "मैं कुछ अनाप-शनाप तो नहीं बक गया?"

सुखदा ने गम्भीर भाव से कहा, "नहीं तो, क्यों?"

"मैं सो गया था; मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैंने सोते-सोते कुछ कहा था।"

सुखदा ने अपने स्वर को स्वाभाविक रखने की चेष्टा करते हुए कहा, "नहीं।" फिर बोली, "खाना तय्यार है, आप खावें।" कह कर थाली उस के सामने रख दी।

युवक ने कृतज्ञतापूर्वक कहा, "मैंने आप को बहुत कष्ट दिया। पर इतना सन्तोष मुझे है कि जहाँ तक हो सकता है, मैं किसी को कष्ट न देने की चेष्टा करता हूँ।" यह कह कर वह सिर झुकाये धीरे-धीरे खाना खाने लगा।

सुखदा बोली, "आप के कपड़े सुखाने के लिए अंगीठी भी ले आयी हूँ। वह पोटली मुझे दे दें, मैं उन्हें सुखा देती हूँ।"

युवक ने जल्दी से कहा, "नहीं-नहीं, उसे सुखाने का कष्ट न करें!" किन्तु उस के कहते-कहते सुखदा ने पोटली खोल ही तो डाली।

एक कोट था, उस के अन्दर लिपटी हुई एक गान्धी टोपी, और टोपी के अन्दर—एक रिवाल्वर!

सुखदा ने जल्दी से उसे भूमि पर रख दिया, और कुछ सहम कर युवक की ओर देखने लगी। युवक ने कोमल स्वर में कहा, "इसे मुझे दे दें।"

सुखदा निश्चल खड़ी रही। वह सोचने लगी, इस से अभी कह दूँ, चला जाय? यह सोचते ही सोचते उसने कहा, "आप अपने बदन पर के कपड़े भी सुखा लें।"

युवक कुछ झिझकते हुए बोला, "पर मेरे पास और पहनने को कुछ नहीं है।"

इस का उत्तर स्पष्ट था, किन्तु सुखदा सोचने लगी, जब मैं इसे यहाँ से निकाल ही रही हूँ, तब क्यों अधिक दया दिखाऊँ ? इस लिए उसने यह नहीं कहा कि मैं और कपड़े दे सकती हूँ। वह युवक के पास से हट कर दिये के पास चली गयी और स्थिर दृष्टि से प्रतिमा की ओर देखने लगी। देखते-देखते वह न जाने किस विचार में लीन हो गयी। उसे युवक का ध्यान ही न रहा।

युवक जब खाना खा चुका, तब उसने सुखदा की ओर देखा। किन्तु उसे इस प्रकार तल्लीन देख कर वह बोला नहीं, स्वयं उठ कर दबे पाँव छप्पर की ओर चला गया। वहाँ जा कर हाथ धो कर वह लौटा तो उसने देखा, सुखदा जहाँ खड़ी थी, वहीं घुटने टेके बैठी है, किन्तु हाथ जोड़े हुए नहीं...उसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। युवक फिर लौट कर छप्पर में चला गया और वहाँ से सुखदा के उठने के स्वर की प्रतीक्षा करता हुआ और बाहर होती हुई वर्षा का स्वर सुनता हुआ बैठा रहा...

५

भीतर से सुखदा ने पुकारा, "आप कहाँ हैं ?"

युवक ने चौंक कर कहा, "आया !" और झोंपड़े के भीतर चला गया।

उस के अन्दर आते ही सुखदा ने प्रश्न किया, "आप का नाम क्या है ?"

एक क्षण, बहुत छोटे-से क्षण के बाद युवक ने उत्तर दिया, "मेरा नाम दिनेश है।" उस क्षण में उसने देख लिया कि विधवा के स्वर में विरोध या वैमनस्य तो नहीं, किन्तु एक प्रकार का कवचबद्ध दूरत्व, एक स्वरक्षात्मक कठोरता अवश्य है।

रिवाल्वर की ओर इंगित कर के, "यह क्या है ?"

उत्तर में एक प्रश्न-भरी दृष्टि, मानों कहती हो, क्या आप नहीं जानतीं ?

"यह क्यों ?"

"आत्मरक्षा के लिए।"

"किस से ? सच क्यों नहीं कहते, हत्या के लिए ?"

"कभी नहीं। मैं हिंसा को घोर पाप समझता हूँ।"

"आप पुलिस से बचते फिरते हैं—मफ़रूर हैं ?"

"यही समझ लीजिए।"

"तो आप मेरे पास क्यों आये ?"

"शरण माँगने।"

"मेरे पास क्यों ?"

"मैंने नदी पार की, तो यही स्थान पहले दीखा। और मुझे राह नहीं मालूम थी।"

"आपने नदी क्यों पार की—पुल से क्यों नहीं आये ?"

"पुलिस ने मेरा पीछा किया था—मैं और किसी प्रकार बच नहीं सकता था। इस लिए कोट उतार कर जमुना में कूद पड़ा।"

"तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है ?"

"हाँ, सम्भव है। पर मैं अँधेरे में कूदा था, उन्हें कुछ अनुमान नहीं होगा कि कहाँ कूदा—या कूदा भी था कि नहीं। और फिर, ऐसी बाढ़ में जमुना पार कर लेना भी आसान नहीं, वे शायद समझें कि डूब गया होगा या नीचे बह गया होगा।"

"अगर आप यहाँ पकड़े जायें, तो मुझे भी दंड मिल सकता है ?"

"हाँ। मुझे आश्रय देना जुर्म है। और अगर आप मुझे गिरफ्तार करा दें, तो बहुत-कुछ लाभ भी हो सकता है।"

सुखदा ने युवक की ओर तीव्र दृष्टि से देखा, किन्तु उस के मुख पर तिरस्कार का भाव न था। वह थोड़ी देर चुप रही। फिर एकाएक बोली, "आपने यह सब मुझे क्यों बताया ? अनजाने में—"

"आपने पूछा था। मैं झूठ भी बोल सकता था, पर आप को धोखे में रखने की इच्छा नहीं हुई"

"डरे नहीं ?"

"नहीं। विश्वासघात आसान नहीं है—विशेषतः वहाँ, जहाँ विश्वास हो।"

"तो, आपने मेरी अनुमति प्राप्त करना जरूरी समझा ? आप जानते हैं, मैं अकेली हूँ, आप को यहाँ से निकाल नहीं सकती।"

"आप का जो अभिप्राय है, उस की मैंने कल्पना भी नहीं की।"

"क्यों?"

"अगर आप निकाल दें, तो मैं बाहर भी रात बिता सकता हूँ। कष्ट होगा, पर कष्ट मात्र पर्याप्त नहीं है।"

"क्या मतलब? विशेष परिस्थिति में आप मेरी इच्छा के विरुद्ध भी यहाँ रहते?"

"हाँ, यदि व्यक्तिगत कष्ट या प्राणों के बचाव के अतिरिक्त और कारण होता तो—"

"अगर मैं लड़ती तो—क्या मार डालते?"

युवक ने थोड़ी देर सोच कर, अधिक गम्भीर होकर कहा, "शायद—नहीं।"

"शायद! निश्चय नहीं है?"

"आप स्त्री हैं, इस लिए शायद नहीं। पर परिस्थिति भी कुछ चीज़ होती है—हम कल्पना नहीं कर सकते।"

"अच्छा!" कह कर सुखदा धीरे-धीरे इधर-उधर टहलने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने कठोर स्वर में कहा, "अपने कपड़े पहन लो।"

विस्मय से—"क्यों?"

"मैं तुम्हें आश्रय नहीं दे सकती—तुम जाओ!"

एक क्षण के अंश भर के लिए युवक अप्रतिभ हो गया, किन्तु फिर बोला, "आप की जो आज्ञा।"

वह चुपचाप कोट में रिवाल्वर लपेटने लगा।

सुखदा ने कहा, "इसे पहन क्यों नहीं लेते?"

"वर्षा हो रही है, रिवाल्वर भीग जायगा।"

"हूँ।"

एक क्षण चुप। फिर युवक ने पूछा, "सड़क किधर मिलेगी, यह बता दें।"

"यहाँ से बायें हाथ चलते जाना। थोड़ी दूर जा कर एक-दो खाली खेत

आयेंगे, वहाँ से फिर बायें मुड़ जाना—बस।"

फिर थोड़ी देर निस्तब्धता। युवक की पोटली तैयार हो गयी। उसे बगल में लेकर वह बोला, "अच्छा, अब आज्ञा दें। आपने जो भोजन दिया है, उस के लिए धन्यवाद। और आपने आश्रय देने से पहले जो प्रश्न पूछे, उन्हें तो अब भूल ही जावें—"

"हूँ" से अधिक सुखदा कुछ भी नहीं कह सकी।

युवक चल पड़ा। वह झोंपड़े के किवाड़ पर पहुँच गया, पर सुखदा किवाड़ खोलने या बन्द करने को भी आगे नहीं बढ़ी।

युवक ने किवाड़ खोला, और बाहर हो कर उसे पुनः बन्द करने के लिए मुड़ा। तब, एकाएक सुखदा ने वहीं से पूछा, "उमा कौन है ?"

युवक चौंक पड़ा। किवाड़ को थामे-थामे बोला, "कौन उमा ?"

"उमा, कोई भी उमा।"

"उमा—थी। मेरी बहिन का नाम था।" कह कर युवक ने किवाड़ बन्द कर दिया।

६

सुखदा अब तक मन्त्रमुग्ध-सी खड़ी थी, अब चौंकी। एकाएक उस के मन में दो प्रश्न हुए, 'मैंने यह क्या पूछा ?' 'मैंने उसे क्यों निकाल दिया ?'

अपने शरीर पर से उस का नियन्त्रण मानों एकाएक टूट गया—उस का रेशा-रेशा चौकन्ना हो कर किसी को खोजने लगा—उस के अंग-प्रत्यंग में यह अनुभूति हुई कि बाहर गिरती हुई वर्षा की बूँदें दबे स्वर से कह रही हैं, 'समय बीता जा रहा है—बीता जा रहा है...'

सुखदा कमान की तनी हुई प्रत्यंचा की तरह उछल कर किवाड़ पर पहुँची और उसे खोल कर, आँखें फाड़-फाड़ कर, बाहर के सजीव और चलायमान अन्धकार को चीरकर देखने की चेष्टा करने लगी...

कहीं कुछ नहीं दीख पड़ा...सुखदा ने आवाज़ दी—"कहाँ चले गये ?" पर उत्तर नहीं मिला...उसने फिर पुकारा, "दिनेश, चले आओ ! लौट आओ, तुम्हें आश्रय मिलेगा !"

उत्तर में वही, वर्षा की बूँदों की अपरिवर्त्त नूतनता...

सुखदा लौट आयी। झोंपड़े के मध्य में आकर उस के अन्धे पाँव एका-एक रुक गये, और वह धम् से भूमि पर बैठ गयी...

मैंने उसे क्यों निकाल दिया? मैंने उसे वापस क्यों बुलाया?

मैंने उसे पहले ही क्यों भीतर आने दिया? अब उसने आवाज़ सुनी होगी या नहीं—

अब लौट कर आ सकता है?

सुखदा ने देखा, उस के हाथ काँप रहे थे। क्यों, वह स्वयं नहीं सोच सकी। वह एकाएक लज्जित हो गयी, और उठ कर दिये के नीचे, प्रतिमा के आगे, घुटने टेक कर बैठ गयी। प्रतिमा के पास से ही उसने एक छोटा-सा फ्रेम उठाया, और क्षण भर उस में जड़े हुए फोटो को देखती रही। उस के मुख ने एक पवित्र किन्तु नीरस मुद्रा धारण की, उस की आँखें बन्द हो गयीं, वह अस्पष्ट शब्दों में शायद प्रार्थना करने लगी...

आकाश में से किसी की ध्वनि आयी, "आपने मुझे बुलाया था?"

सुखदा के हाथ से फ्रेम गिर पड़ा। उसने उसे जल्दी से उठा कर यथा-स्थान रख दिया। फिर वह धीरे-धीरे किवाड़ पर गयी और उसे खोल कर एक ओर खड़ी हो गयी।

दिनेश ने फिर पूछा, "आपने मुझे क्यों बुलाया है?"

सुखदा ने धीरे से कहा, "आप रात भर यहाँ ठहर सकते हैं।"

युवक सहसा अन्दर नहीं आया। बोला, "नहीं, आप आवेश में आ कर कोई ऐसा काम न करें, जिसे करने के बाद आप की अन्तरात्मा आप को कोसे। मैं तो—"

"आप चले आइये, मैं सोच चुकी।"

युवक अन्दर चला आया। सुखदा ने किवाड़ बन्द किया, फिर एक कोने की ओर जा कर, बिस्तर बिछाते हुए बोली, "आप थके हुए होंगे, सो जाइये।"

बिस्तर बिछा कर, एक बार झोंपड़े के चारों ओर दृष्टि डाल कर वह पिछले छप्पर की ओर जाने लगी।

युवक अब तक चुपचाप खड़ा था। उसे जाती देख कर बोला, "और आप ?"

"मैं भी सो जाऊँगी, छप्पर में बहुत स्थान है।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं छप्पर में चला जाता हूँ।"

"नहीं, आप अतिथि हैं; ऐसा नहीं हो सकता।"

"मैं शरणागत हूँ। आप मेरे लिए इतना कष्ट न करें।"

"आप मेरे अतिथि हैं; और आप को मेरे प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

युवक धीमे स्वर में, कुछ डरते-डरते बोला, "आप मुझे विवश न करें, नहीं तो मैं आप का आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकूँगा।"

सुखदा क्षण भर चुप रह गयी। फिर उसने कहा—"जैसी आप की इच्छा।" और दो-तीन कम्बल इत्यादि निकाल कर युवक को दे दिये। युवक उन्हें लेकर छप्पर में चला गया।

सुखदा धीरे-धीरे उस झोंपड़े में टहलने लगी। थोड़ी ही देर बाद उसने सुना, युवक बिल्कुल निश्चिन्त और निःस्वप्न नींद की नियमित साँसें ले रहा है। तब वह छप्पर से कुछ हट कर झोंपड़े के दूसरी ओर जा कर टहलने लगी। ज्यों-ज्यों रात बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों उस की टहलने की गति अधिक तीव्र होती जा रही थी...

वर्षा कुछ देर के लिए बन्द हो गयी थी, इस लिए सुखदा बहुत दबे-पाँव चल रही थी, ताकि दिनेश की नींद न भंग होने पावे...

७

उस के भीतर एकाएक ही कुछ जाग उठा—या कुछ टूट गया। जिस प्रकार उन्मत्त व्यक्ति के ऊपर ठंडा पानी पड़ने से उस का खुमार एकाएक टूट जाता है—या उस की साधारण चेतना जाग उठती है। उसे मालूम हुआ, अब तक वह जो कुछ कर रही थी, एक नशे में कर रही थी...बाह्य वस्तुओं की अनुभूति उसे होती थी पर नहीं होती थी। इन्द्रियाँ अपना काम करती थीं, किन्तु मस्तिष्क उनकी भाषा को कुछ काल के लिए भूल गया था—या समझता ही

नहीं था—और दिनेश के सो जाने के कुछ क्षण बाद ही उसने जाग कर अपने सामान्य कर्म आरम्भ कर दिये थे—अब वह एक अपूर्व चेतना से धधक उठा था...

उस के मन में रौरव मचा हुआ था...प्रश्नों का तूफान इतने ज़ोरों से उठा हुआ था कि वह एक प्रश्न को दूसरे से अलग भी नहीं कर पाती थी। मानों उस का समूचा मस्तिष्क विद्रोही हो गया हो, और हजारों नयी माँगें उपस्थित कर रहा हो—माँगें जो एक दूसरे से मिल कर एक विराट् कोहराम हो गयी थीं—एक उद्दीप्त ललकार का रूप ले कर पूछ रही थीं—'तू ने क्या किया ?'

सुखदा इस रौरव से घबरा उठी। उसने दिये की बत्ती को सरका कर तेज़ कर दिया और फिर प्रार्थना करने बैठ गयी।

'ईश्वर, मुझे शान्ति दे ! मेरे मन में जो रौरव मचा हुआ है, इस का शमन कर दे, ताकि मैं जान पाऊँ कि मैं क्या चाहती हूँ। मुझे सद्बुद्धि दे...

'मैंने अच्छा किया या बुरा, मैं नहीं जानती—इसमें संसार का लाभ है या हानि, मुझे नहीं मालूम...पर मैं यह भी नहीं जानती कि मैंने अपनी आत्मा से विश्वासघात किया है या नहीं—यही मुझे बता दे ! यदि मैंने किसी मोह में पड़ कर, जान-बूझ कर बुरा किया है, तो मुझे दंड दे, मुझे उस से शान्ति मिलेगी... यदि मैंने ऐसा नहीं किया, तो भी कह दे—मुझे शान्ति मिलेगी...

'ईश्वर ! इस अनिश्चय को दूर कर दे —क्षण-भर, एक अत्यन्त छोटे क्षण-भर के लिए प्रकट होकर मेरी प्रार्थना का उत्तर दे दे !'

पर कहाँ ? यदि ईश्वर प्रत्येक प्रार्थना की अत्यन्त सूक्ष्मकाल में ही पूर्ति कर डाले, तो कुछ ही दिनों में उन का अस्तित्त्व ही मिट जाय ! उन का अस्तित्त्व ही इस बात पर निर्भर करता है कि आकांक्षा के समय कुछ न मिले, उपभोग के समय दारिद्रय हो, विरक्ति में लोभ हो; कि वे याचना के समय दीवालिया और समृद्धि के समय दयालु हों...

जब उस मूर्त्तिमती प्रतीक्षा की काफी उपेक्षा कर के भगवान् अपनी सर्व-शक्तिमत्ता दिखा चुके, तब सुखदा चुप हो गयी और कुछ सोचने लगी...किन्तु प्रार्थना में वह जिस प्रकार अपने भावों का उच्चारण कर रही थी, उसी प्रकार

अब भी करती रही।

'प्रपीड़ित को क्या आश्रय न दिया जाय ? पर वह तो हत्या भी कर सकता है ! आत्मरक्षा क्या हत्या है ? पर और भी तो संसार बसता है, उन की भी तो आत्मरक्षा होती है। अत्याचार का विरोध नहीं करना चाहिए ? पर अत्याचार का विरोध अत्याचार से नहीं होता।

'इसका निश्चय मैं नहीं कर सकूँगी—बड़े-बड़े नहीं कर सके...

'मैंने पहले उसे निकाल दिया था। वह मुझ से आश्रय माँगता था, पर उसे मेरे जीवन की कद्र नहीं ? कहता था, स्त्री पर हाथ नहीं उठाऊँगा—कहता था कि उस के भी आदर्श हैं...पर अगर मैं उस का विरोध करती, तो शायद मुझे मार डालता !

'मैंने क्या डर कर आश्रय दिया ? मैंने उसे निकाल दिया था, फिर बुलाया।

'क्यों ?'

'उमा कैसी थी, उस के बारे में कल पूछूँगी। उसे कितना याद करता होगा ?

'कहता था, मेरी बहिन थी। अगर बहिन न हो तो ? अगर—'

इस से आगे वह नहीं सोच सकी; एकाएक उठ खड़ी हुई। अगर क्या ? अगर उमा उस की प्रेमिका रही हो ! सुखदा को यह विचार असह्य प्रतीत हुआ। वह तीव्र गति से इधर-उधर टहलने लगी...यह कभी नहीं हो सकता—उस की प्रेमिका नहीं हो सकती ! नहीं हो सकती—वह ऐसा नहीं हो सकता !

सुखदा इस विचार को मन से हटा नहीं सकी, न स्वीकार ही कर सकी ! वह उन्मत्त की भाँति चलती रही, इधर से उधर, उधर से इधर, किन्तु पाँव दबी चाँप से पड़ रहे थे...

उसका मुँह लाल हो आया—फिर पीला पड़ गया। वह खड़ी हो गयी। प्रतिमा के पास पड़ा हुआ फ्रेम उठा कर वह उस की ओर देखने लगी और बोली, "क्या मैं पापिनी हूँ ? मैंने अपना व्रत तोड़ा है ? तुम्हारे प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल गयी हूँ ? नहीं तो क्यों मुझे वह विचार असह्य होता—असह्य है ?

"पर अगर तुम हत्यारे होते और मैं तुम से घृणा करती होती, तो क्या मैं तुम्हें निकाल देती ?"

किसी तिरस्कार-भरी हँसती आवाज़ ने उस के कानों में कहा, 'तो दिनेश क्या तेरा पति है ?'

फिर वही आरक्त मुद्रा, वही उन्मत्त चाल, इधर से उधर, उधर से इधर...

उस के रक्त में विद्रोह जाग रहा था। यह कैसा अत्याचार है—कैसे बन्धन ? वह क्या मेरा बन्धु नहीं ? वह क्या मानव नहीं ? अगर मैं विधवा हो गयी हूँ, समाज ने मुझे जूठन की तरह अलग फेंक दिया है, तो मैं समाज के एहसान से मुक्त हूँ ! मैं अपना कर्त्तव्य जो समझूँगी, करूँगी !

और पति ?

इस में क्या अनौचित्य है ? अगर उसे आश्रय देना मेरा धर्म था, तो वैधव्य उस में क्यों बाधक हो—पति भी क्यों हो ?

फिर वही तिरस्कार की हँसी—वही उन्मादक प्रश्न—'तू उस से प्रेम करती है ?'

सुखदा ने चित्र वहीं रख दिया, हाथ से बत्ती दबा कर दीपक बुझा दिया, और फिर बड़ी तीव्र गति से टहलने लगी...उस के पैरों की दबी हुई चाँप में भी एक ललकार थी—अपने को, या मानवता को, न जाने...

यही है मानवता का जीवन—यह अन्धकार में अशान्ति, उन्माद में जलन, विश्वास में अनिश्चय, सम्पन्नता में विद्रोह; रात्रि की प्रशान्त गति में यह अपूर्त्ति और ललकार ...

८

बादल फट रहे थे। रात बीत चुकी थी।

अभी उषा के प्रकाश का भास भी नहीं होता था, किन्तु मानों अन्धकार का रंग बदल गया था।

सुखदा थक गयी थी। उस के उन्माद की पराकाष्ठा धीरे-धीरे ढीली पड़ कर बहुत उतर आयी थी।

वह झोंपड़े के किवाड़ खोल कर देहरी पर बैठ गयी और बाहर देखने लगी।

दूर पर जमुना के विशाल वक्ष का कुछ अंश दीख रहा था। उस का जल पहले-सा क्षीण 'सर-सर-सर' छोड़ अब खेतों को नाँघता हुआ एक दर्प-भरा 'झूल-झूल-झूल' गुर्राता हुआ चला जा रहा था...उस से कुछ इधर दो वृक्षों के आकार कुछ स्पष्ट-से नज़र आते थे, जिन की ओर सुखदा देख रही थी। इन्हीं में से एक वह पगोडा वृक्ष था, जिस के नीचे उसने इतनी बार अपने हृदय की परीक्षा ली थी...

सुखदा को एकाएक ऐसा ज्ञात हुआ, उस वृक्ष के नीचे कोई खड़ा है। वह ध्यान से उस की ओर देखने लगी, उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई अपनी आँखों पर हथेली की आड़ दिये, दूर कहीं देखने का प्रयत्न कर रहा था...पर, देर तक देखने पर भी जब वह आकार हिला-डुला नहीं, तब सुखदा की दृष्टि उस पर से हट कर बहुत दूर पर जगमगाती हुई जमुना के पुल की लैम्पों की ओर गयी... उस पर कई-एक लैम्पें चलती हुई नज़र आ रही थीं—देहली से मेरठ की ओर। सुखदा ने सोचा, 'ये मोटरें होंगी,' और फिर उन्हें भूल गयी। वह फिर उस वृक्ष की ओर देखने लगी—पर अब वह आकार, जिस की ओर उस का ध्यान पहले आकृष्ट हुआ था, वहाँ नहीं था।

न जाने क्यों, सुखदा का ध्यान एकाएक फिर दिनेश की ओर गया। उस की आन्तरिक अशान्ति, जो कुछ क्षीण हो पड़ी थी, फिर धधक उठी—वही प्रश्न फिर उस के मन में नाचने लगा—'मैंने क्या किया...मुझे क्या हो गया...'

वह उठ कर अन्दर गयी। दबे-पाँव छप्पर के पास जा कर उसने देखा, वहाँ खाली कम्बल पड़े थे—दिनेश नहीं था!

उस का हृदय धक् से हो कर रह गया। उसे ऐसा जान पड़ा, उस के मस्तिष्क पर फालिज पड़ गया है...उस की आन्तरिक अशान्ति भी मानों स्तिमित हो गयी...

पता नहीं कैसे, वह छप्पर से कुछ दूर तक चल कर आयी, और खूँटी से सारंगी और गज़ ले कर फिर पूर्ववत् देहरी पर आ बैठी। उस का शरीर क्या

कर रहा है, यह वह स्वयं नहीं जानती थी...

उस की उँगलियाँ गज़ को इधर-उधर चलाने लगीं, तारों से दो-चार टूटे से, अनमिल स्वर निकलने लगे...धीरे-धीरे उन का प्रकार बदलता गया—और थोड़ी देर बाद वे एक प्रकार के संगीत में परिणत हो गये——एक संगीत जिसमें उत्कंठा और रोना मिले हुए थे, जिस में एक विराट् भव्यता के साथ ही एक भयंकर निरर्थकता फूटी पड़ती थी...वैसे ही जैसे किसी सम्पूर्ण जीवनी में सब कुछ रहने दिया गया हो, केवल एक उद्देश्य निकाल दिया गया हो...

थोड़ी देर बाद नदी में कहीं एक 'छड़ाप् !' शब्द हुआ, किन्तु सुखदा ने उसे सुन कर भी नहीं सुना। इस शब्द का कुछ अर्थ हो सकता है, यह विचार उस के स्तिमित मन पर नहीं उदित हुआ। वह उस समय अपने ही संगीत की निरर्थकता में वही जा रही थी...

उस का मन जागा तब, जब उसने सामने से बहुत-से बूटों की चाँप सुनी, और आँख उठा कर देखा कि कई एक सशस्त्र पुलिस के सिपाही और अफसर उस की ओर बढ़े चले आ रहे हैं।

एक हाथ में सारंगी और दूसरे में गज लिये वह धीरे-धीरे उठ कर खड़ी हो गयी।

एक सिपाही ने उस के मुख पर टार्च का तीक्ष्ण प्रकाश डालते हुए कड़क कर पूछा, "कौन है तू ? क्या नाम है ?"

सुखदा ने शान्त भाव से कहा, "मेरा नाम सुखदा है।"

"तेरे घर में और कौन है ?"

"मैं अकेली हूँ।"

सिपाही घर में घुस आये, सुखदा किवाड़ के एक तरफ खड़ी रही। सिपाहियों ने क्षण भर में झोंपड़े को देख डाला, और छप्पर में घुसे। घुसते ही एक ने पूछा, "यहाँ कौन सोया था ?"

"मैं सोती हूँ।"

"और उस में कौन सोता है, तेरा खसम ?" सिपाही ने झोंपड़े वाले बिस्तर की ओर इंगित कर के पूछा।

"वहाँ कोई नहीं सोता है, मैं विधवा हूँ।"

उस के इस शान्त उत्तर को सुन कर यदि सिपाही कुछ लज्जित हुआ, तो उसने इसे प्रकट नहीं होने दिया।

इसी समय दो अंग्रेज़ अफसर भी आ पहुँचे। सिपाही दोनों ओर हट कर खड़े हो गये। अफसर ने पूछा, "तलाशी ली ?"

"जी हाँ, कुछ नहीं मिला।"

"अच्छा, तुम लोग बाहर रहो, हम इससे बात करेंगे।"

सिपाही बाहर चले गये, सुखदा चित्रवत् खड़ी रही। जब सब सिपाही बाहर हो चुके, तब अफसर सुखदा के सामने खड़ा हो कर बोला, "तुम जानता है, तुम को कितना सजा मिल सकता है ?"

"मैंने क्या किया है ?"

"तुमने एक मफरूर आदमी का मदद किया है। तुम्हारे पास इधर रात को सूर्य्यकान्त नाम का एक डाकू और खूनी आदमी रहा है—जिस को पकड़ाने का पाँच हज़ार रुपया इनाम है।"

"आप भूलते हैं। यहाँ कोई नहीं आया। मैंने इस नाम को सुना भी नहीं।" कहते हुए सुखदा सोच रही थी, "तो उस का असली नाम सूर्य्यकान्त था।"

"हूँ। सब मालूम पड़ जायगा।"

अब दूसरा अफसर बोला, "देखो, हम को सब पता लग गया है। हम को जमुना में उस का लाश मिला है—वह पार जाने को था, डूब गया। तुम्हारे घर के बाहर उस के पैर का निशान भी है। तुम सच बता देगा तो छूट सकता है, नहीं तो..."

सुखदा का हृदय धड़कने लगा। उस की लाश ! तो वह वापस भी तैर कर ही गया—क्यों ? सुखदा को एकाएक याद आया, उसने वह 'छड़ाप् !' का शब्द सुना था...उस समय पुल पर से मोटरें चली आ रही थीं—ऐसे समय में...

इस पीड़ा में, इस धड़कन में, एक विचित्र शान्ति थी...वह रात भर की

कसक, वह जलन और अशान्ति, और उन से उत्पन्न हुए भूतकाल के दृश्य, सब एक साथ ही बुझ गये, उसे ऐसा मालूम हुआ, सैकड़ों वर्षों की थकान के बाद उसे शय्या पर लेट जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो...

उसे चुप देख कर पुलिस अफसरों ने समझा, उस पर कुछ प्रभाव पड़ा है। उन्होंने कहा, "हाँ, जल्दी कहो, जो कुछ कहना है। हम पूरा कोशिश करेगा कि तुम छूट जाओ।"

सुखदा ने दृढ़ स्वर में कहा, "मुझे कुछ नहीं कहना है। मैंने सूर्यकान्त का कभी नाम भी नहीं सुना है।"

अफसर ने कुछ क्रुद्ध हो कर कहा, "अच्छा, तुम गिरफ्तार है।" फिर उसने आवाज़ दी, "सिपाही!"

दो सिपाही अन्दर आये। अफसर ने कहा, "इस को गिरफ्तार कर के ले चलो।"

"अच्छा, हजूर," कह कर सिपाही आगे बढ़े।

सुखदा ने कहा, "मुझे तैयार होने के लिए पाँच मिनट का समय दीजिये।"

अफसरों ने आपस में इशारा किया, फिर एक बोला, "अच्छा, हम दो मिनट दे सकता है।"

सिपाही रुक गया।

सुखदा ने कहा, "आप बाहर जावें।"

अफसरों ने घूर कर उस की ओर देखा, पर फिर बाहर जाते-जाते बोले, "दो मिनट से ज्यादा नहीं मिलेगा, जल्दी करो।"

सुखदा ने किवाड़ बन्द कर लिया। छप्पर से एक लोटा पानी ले कर उसने मुँह धोया, फिर एक चादर निकाल कर कन्धों पर डाल ली। एक बार धीरे-धीरे दृष्टि फिरा कर उसने सारे झोंपड़े को देख डाला। इन सब का अब कौन रखवाला होगा?

वह उस आले के पास गयी, जिस में प्रतिमा रखी थी, और वहाँ से उसने अपने पति का चित्र उठाया। उसे फ्रेम में से निकाल कर क्षण भर देखती रही, फिर धीरे-धीरे उसे फाड़ने लगी...दो, चार, आठ...सैकड़ों टुकड़े कर के

उसे प्रतिमा के पास ही रख दिया ।

फिर उसने लकड़ी के बक्स पर पड़ी किताबों में से दो-तीन चुन कर धोती के छोर में लपेट लीं ।

क्षण-भर वह झोंपड़े के मध्य में अनिश्चित खड़ी रही ।

और क्या करना है ? एक बार फिर उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर देख लिया—यह उस की विदा थी ।

उस की दृष्टि चौकी पर जा कर रुकी । रात की बुझी हुई अंगीठी उस के सामने पड़ी थी ।

सुखदा को याद आया, उस के पास कुल दो मिनट का समय था । वह क्षण भर अनिश्चित खड़ी रही, फिर एकाएक प्रार्थना के लिए झुक गयी । अपने देवता के आगे नहीं, अपने पति के फटे हुए चित्र के आगे नहीं, किन्तु उस चौकी के आगे, जिस पर दिनेश—या सूर्य्यकान्त—बैठे-बैठे सो गया था । उसने घुटने ज़मीन पर टेक दिये और सिर को धीरे से चौकी पर नवा दिया...

उस अपने जीवन के अपूर्व एक मिनट में उसने किस से क्या प्रार्थना की, कौन जाने...किन्तु जब वह उठी, तब मानों उस के प्राणों का तूफान बैठ गया था...उस की आत्मा के सभी संस्कार, अच्छे या बुरे, नये या पुराने, एक पुरानी केंचुल की तरह झड़ गये थे, वह निरावरण हो गयी थी...सुखदा के मुख पर एक शान्ति थी—उस शान्ति में वैराग्य की, त्याग की भावना स्पष्ट थी; किन्तु वह त्याग वैधव्य की भाँति मलिन या उद्विग्न नहीं था...

१०

किन्तु जब वह किवाड़ खोल कर वापस आयी, तब एकाएक उस के हृदय पर मानों कोई दैवी प्रकाश छा गया...उसे किसी दिव्यज्ञान की एक रेखा ने कहा, 'ये झूठे हैं !'

सूर्य्यकान्त मरा नहीं, वह मर सकता ही नहीं था...यह विचार भी असम्भव था—असम्भावना से भी अधिक असम्भव...

वह ज्ञान-रेखा कह रही थी, 'ये झूठे हैं ! वह नहीं मरा ! तुम्हारे कर्म की सफाई के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उस की मृत्यु हो गयी हो !'

सुखदा इस ज्ञान के प्रकाश के आगे यह सोच ही नहीं सकी कि उसे कैसे पुलिस के कथन पर विश्वास हो गया—चाहे क्षण भर के लिए ही ...जब उसे याद आया कि यह समाचार सुन कर ही उस की आत्मा को पीड़ा के साथ-साथ शान्ति का अनुभव हुआ था, तब उस का हृदय लज्जा से भर गया...

वह धीरे-धीरे झोंपड़े के सामने वाले पगोडा वृक्ष की ओर अग्रसर हो रही थी। पुलिस वाले उसे बाहर आया देख कर इकट्ठे हो रहे थे। वह उन की उपेक्षा करती हुई, वृक्ष की ओर देखती हुई चल रही थी।

वह रुकी। एकाएक उस का हृदय एक अदम्य सुख से, एक ज्वलन्त उल्लास से, भर आया।

यही जीवन का चरम उद्देश्य है—सृष्टि का चरम साफल्य, अनुभूति का अन्तिम विकास—सुख की अन्तिम पराकाष्ठा...पीड़ा का, उत्कट पीड़ा का ज्ञान—ऐसी पीड़ा का, जो कि स्वयं अपनी इच्छा से, अपने हाथों, स्वागत की भावना से, अपने ऊपर ली गयी है...यह आत्म-निछावर की चेतना...

सुखदा को ऐसा प्रतीत हुआ, उस का वर्षों का वैधव्य, और उस से पूर्व की जीवित मृत्यु, आज एकाएक अपनी सीमा पर पहुँच गये हैं—समाप्त हो गये हैं; और वह आज एक नयी स्त्री, एक नयी शक्ति हो गयी है...

उसने एक बार अपने छोटे-से बागीचे के चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। वह जमुना के विशाल वक्ष को छूती हुई फिर उसी पगोडा वृक्ष पर आ कर रुक गयी। क्षण भर सुखदा स्थिर दृष्टि से उस की ओर देखती रही, उस के मुख पर एक शान्त स्निग्ध हँसी छा गयी...

फिर उसने कहा, "चलो।" और विस्मित सिपाहियों के आगे अभिमान-भरी मुद्रा से चल पड़ी।

रात-रात में पगोडा वृक्ष ने पुरानी केंचुल उतार फेंकी थी—या नये वस्त्र धारण कर लिये थे। आज उस की कालिमा का चिन्ह भी कहीं नजर नहीं आता था, वह फूलों से भरा हुआ, सौन्दर्य से आप्लुत, सौरभ से झूम रहा था।

उस समय ऊषा का प्रकाश नभ में फूट रहा था।

अक्तूबर, १९३३